अंक 30

भगवान महावीर का
2591वां जयन्ती समारोह

महावीर जयन्ती स्मारिका

1993

प्रधान सम्पादक :
ज्ञानचन्द बिल्टीवाला

प्रवन्ध सम्पादक :
महेन्द्रकुमार पाटनी

मुद्रक :
जैना प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
घोरड़ी का रास्ता, किशनपोल बाजार
जयपुर, फोन 63068, 65881

प्रकाशक :
प्रेमचन्द छावड़ा
मंत्री
राजस्थान जैन सभा, जयपुर

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

कार्यकारिणी वर्ष-1993

श्री रमेश चन्द्र गगवाल	अध्यक्ष
श्री रतनलाल छावड़ा	उपाध्यक्ष
श्री ताराचन्द्र साह	उपाध्यक्ष
श्री प्रेमचन्द छावडा	मन्त्री
श्री कमल वावू जैन	संयुक्त मन्त्री
श्री भागचन्द छावड़ा	सयुक्त मन्त्री
श्री कैलाश चन्द साह	कोपाध्यक्ष
श्री राजकुमार काला	सदस्य
श्री प्रकाशचन्द ठोलिया	सदस्य
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी	सदस्य
श्री शान्ती कुमार गोधा	सदस्य
श्री अरूण सोनी	सदस्य
श्री अरूण कोडीवाल	सदस्य
श्री राकेश छावडा	सदस्य
श्री अरूण काला	सदस्य
श्री विजय जैन	सदस्य
डा सुभाप गगवाल	सदस्य
श्री सुवोध पाण्ड्या	सदस्य
श्री सुधीर वाकलीवाल	सदस्य
श्री सुरेन्द्र मोहन	सदस्य
श्रीमती स्नेहलता साह	सदस्य

मैं दिगम्बर नग्नता से दूर, उज्ज्वल आचरण हूं।
वस्त्र तन पर बिना पहने, आत्म रूप अनावरण हूं।
मैं अतीन्द्रिय वासना के वसन से हूं, मुक्त हर दम।
लाज से जो हीन, उसकी लाज, अशरण की शरण हूं।

शुभ सन्देश

आशीर्वाद

राजस्थान जैन सभा से महावीर जयंती पर प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली स्मारिका जन-जन के लिये उपयोगी बने, यही हमारा आशीर्वाद है ।

आ. विमलसागर

आशीर्वाद

राजस्थान जैन सभा द्वारा प्रतिवर्ष भगवान महावीर की जन्म जयंती पर जिनशासन की प्रभाविका सुन्दर ज्ञानवर्धिनी स्मारिका का प्रकाशन होता है, यह धर्मप्रभावना का कार्य अतिप्रशंसनीय है । प्रकाशन समिति को मेरा यही आशीर्वाद है कि इस स्मारिका के माध्यम से अहिंसामयी जैन धर्मतीर्थ की महती प्रभावना हो, जिन धर्म का दिनोंदिन प्रचार-प्रसार हो और भव्य जीव मिथ्यामार्ग का त्याग कर समीचीन मार्ग पर आरूढ़ होकर मानव जीवन को सफल बनावें ।

उपाध्याय मुनि भरतसागर

आशीर्वाद

14 मार्च, 1993
सरदारशहर ।

राजस्थान जैन सभा प्रति वर्ष की तरह इस वर्ष भी महावीर जयन्ती के उपलक्ष्य मे स्मारिका का प्रकाशन कर रही है । राजस्थान के पूर्व वित्त मत्री चन्दनमल जी बैद से यह ज्ञात हुआ । इसके आधार पर हम अपना सन्देश या अभिमत प्रेपित कर रहे हैं । हमारा एक घोप है -

पहले इन्सान इन्सान फिर हिन्दु या मुसलमान
ठीक इसी तरह एक दूसरा घोप -
पहले जैन जैन फिर श्वेताम्वर या दिगम्वर ।

प्रति वर्ष जयन्ती मना लेना, पत्रो मे विशेपाक और स्मारिकाएँ निकाल लेना, जुलूस व सभाएँ आयोजित कर लेना, इतने मात्र से हमारा दायित्व पूरा कैसे होगा ? हमे सोचना है । हमने थोड़ा प्रयत्न किया । अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान और जीवन विज्ञान का कार्यक्रम चालू किया । इसम भगवान महावीर के सार्वभौम धर्म की झलक दिखाई दे रही है । आनन्द की अनुभूति हो रही है । इसके आधार पर सव जैन सम्प्रदायो से यह अनुरोध किया जा सकता है कि महावीर का जैन धर्म विश्व मानव के लिए ग्राह्य और उपादेय वने, इसका प्रयत्न अपने-अपने अह, मताग्रहो और साम्प्रदायिक दृष्टियो को गौण करके हम सवको करना चाहिए ।

आचार्य तुलसी

आशीष एवं आशायें

स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्य प्रसन्नधीः ।
निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः फलं नैश्रेयसं सुखम् ॥

पुण्य / श्रेष्ठ / आध्यात्मिक गुणों की प्रशंसा कीर्ति, प्रार्थना करना स्तुति / पूजा / अर्चना / वन्दना है । प्रसन्न / निर्मल / पवित्र भावना युक्त भव्य स्तोता / पूजक है । जो कृतकृत्य / मुक्त / निष्काम पुरूष है वह स्तुत्य / पूज्य / पूजनीय है । गुण कीर्ति / गुण स्मरण का फल नैश्रेयस् / मोक्ष / निर्वाण सुख है ।

उपर्युक्त कारण से प्रेरित होकर राजस्थान जैन सभा महावीर जयन्ती मनाती है एवं स्मारिका भी प्रकाशित करती है । यह एक अभिनन्दनीय कार्य है । इससे क्रान्तदृष्टा, युग पुरूष, सत्य, अहिसा-समता के अवतार महावीर के प्रति बहुमान/आदर / विनय प्रगट होता है एव दूसरों को भी प्रेरणा / आदर्श/शिक्षा/दिशा-बोध मिलता है । ऐसे कार्य के लिए मेरा शुभाशीर्वाद है ।

जिस प्रकार महावीर जयन्ती मनाते हैं उसी प्रकार आदिनाथ जयन्ती भी प्रभावना पूर्वक राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय स्तर पर मनाना चाहिए । क्योंकि आदिनाथ भगवान युगादि धर्म प्रवर्तक के साथ-साथ समाज व्यवस्था, शिक्षा, कला, युद्ध कौशल, राजनीति, वाणिज्य, अंकाक्षरी-विद्या, पशु पालन, कृषि-विद्या, ज्ञान-विज्ञान के भी शिक्षक / प्रचारक / प्रसारक थे । इससे दूसरों को ज्ञात होगा कि जैन धर्म कितना प्राचीन एवं सार्वभौम / व्यापक है। और भी एक आशा है कि जैन साहित्य, पत्रिका, स्मारिका में केवल सत्य, धर्म, ज्ञान-विज्ञान, के लेख/विषय हो न कि व्यापार, धन, व्यक्ति का विज्ञापन, प्रशंसा/प्रसार । इससे साहित्य का/धर्म का अवमूल्यन होता है । मेरी किसी की निंदा की भावना नहीं है परन्तु मेरी यह धार्मिक विचारधारा है । सब धार्मिक बने, सुखी बने, सत्य के पथिक बने इसी महती शुभकामना के साथ -

उपाध्याय कनकनंदी
चन्दलाई- 16-2-93
जयपुर (राजस्थान)

SECRETARY TO GOVERNOR
RAJASTHAN, JAIPUR

सन्देश

महामहिम राज्यपाल महोदय को यह जानकर प्रसन्नता है कि राजस्थान जैन सभा, जयपुर द्वारा महावीर जयन्ती के अवसर पर अपनी स्मारिका के 30 वे अक का प्रकाशन किया जा रहा है ।

तपस्वियो के पावन सदेशो को जन-जन तक पहुचाने के जितने प्रयास किए जाये, कम हैं । आज के परिवेश मे इनके सदेशो की महती आवश्यकता है । इस उद्देश्य से भगवान महावीर के सदेशो को आत्मसात् कराने की दृष्टि से स्मारिका जैसे उपक्रम अनुकरणीय हैं ।

महामहिम को विश्वास है कि प्रकाश्य स्मारिका मात्र एक सन्दर्भ ग्रन्थ बनकर नही, अपितु "जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त को हृदयगम कराने का माध्यम बन सकेगी ।

महामहिम की ओर से शुभकामनाए

(एन आर भसीन)
सचिव
राज्यपाल, राजस्थान

अध्यक्षीय

यह स्मारिका देखकर निश्चय ही आपको प्रसन्नता होगी । इसका जो भी स्वरूप आप देख रहे हैं वह महान चिन्तक -स्पष्ट वक्ता, समाज सेवी स्व. पं. चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ की प्रेरणा और पूर्व विद्वान सम्पादकों के आशीर्वाद और मार्गदर्शन तथ्य वर्तमान सम्पादक श्री ज्ञानचन्द जी बिल्टीवाला व उनके सहयोगी सम्पादक मण्डल के सदस्य श्री डा. प्रेमचन्द जी रांवका, कैलाशचंद जी साह एवं श्री सोभागमल जी रांवका के अथक परिश्रम का प्रतिफल है ।

जैन सभा गत 30 वर्षों से महावीर के पावन जनहितकारी सन्देश जन जन तक पहुँचाने के उद्देश्य से देश के ख्याति प्राप्त विद्वानों द्वारा लिखित लेख संकलित कर उन्हें स्मारिका के रूप में प्रतिवर्ष प्रकाशित करती है । इसे विश्वविद्यालयों में सन्दर्भ ग्रंथ के रूप में मान्यता प्राप्त है ।

इस पावन कार्य को सम्पन्न कराने के लिये विद्वान लेखकों का अनुग्रहित हूँ, जिनके सहयोग से स्मारिका यह स्वरूप ग्रहण कर सकी ।

स्मारिका के प्रकाशन सहयोगी सभा के मंत्री श्री प्रेमचन्द जी छावड़ा, प्रवन्ध सम्पादक अग्रज श्री महेन्द्र कुमार जी पाटनी एवं प्रवन्ध मण्डल के सभी समर्पित सदस्यगण जिन्होंने अथक प्रयास कर इतने विज्ञापन जुटायें । इन सभी का मैं आभारी हूँ । साथ ही जिन विज्ञापनदाताओं ने हमारे निवेदन पर आर्थिक सहयोग दिया, उनका भी आभारी हूँ, जिनके सहयोग के विना स्मारिका मुद्रण संभव नहीं था । श्री कैलाशचन्द जी साह सभा के कोषाध्यक्ष एवं जैना प्रिन्टर्स एवं स्टेशनर्स के मालिक तथा इनके सभी सहयोगी कर्मचारीगण जिन्होंने तन्मयता से इतने कम समय में स्मारिका का मुद्रण कार्य सम्पन्न कराया -उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हुए सबके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ ।

अन्त में सभी समर्पित सभा के पदाधिकारियों, कार्यकारिणी के सदस्यों, विद्वानों, सामाजिक कार्य-कर्त्ताओं, महिलाओं और युवा साथियों, हितैषियों जिनका नाम यहाँ उल्लेखित नहीं है, जिन्होंने वर्ष भर सभा के कार्यों में समपर्ण की भावना से सहयोग और मार्ग दर्शन किया है, के प्रति अनुग्रहित होकर आभार व्यक्त करता हूँ ।

रमेश चन्द्र गंगवाल
अध्यक्ष

प्रकाशकीय

यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है कि प्रतिवर्ष महावीर जयन्ती देश विदेश मे वड़े उत्साह के साथ मनायी जाने लगी है । अधिकाश स्थानो मे इस अवसर पर सार्वजनिक अवकाश रहता है इस दिन भगवान महावीर के दिव्य सन्देश को जन-जन तक पहुँचाने के उद्देश्य से विभिन्न कार्यक्रमो का आयोजन होते हैं । इससे श्रोताओं को नैतिक जीवन की ओर वढने एव जीवन को समुन्नत वनाने की दिशा मे प्रेरणा मिलती है । ऐसी प्रेरणाओं को वल देने तथा स्थाई प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से वर्ष 1962 से जयन्ती के अवसर पर स्मारिका का नियमित प्रकाशन राजस्थान जैन सभा द्वारा किया जा रहा है । इस वर्ष 30 वाँ अक आपके कर कमलो मे देते हुये हर्ष से उत्साहित हो रहा हूँ ।

स्मारिका का सम्पादन जैन दर्शन के अध्येता श्री ज्ञानचन्द जी विल्टीवाला ने किया है। आपने लेखो का सकलन, चयन एव सजाने सँवारने का कार्य उत्साह के साथ पूर्ण किया है । सभा आपके इस सहयोग के लिये सदैव आभारी रहेगी । आपके सहयोगी श्री सोभाग मल जी रावका, डॉ प्रेमचन्द जी रावका ने इस स्मारिका को सदर्भ ग्रन्थ वनाने मे जो सहयोग दिया है वह भुलाया नहीं जा सकता है । सभा आप के प्रति सदैव आभारी रहेगी ।

सारी चेष्टाये सारे प्रयास ठोस रूप ग्रहण कर सके यह कार्य पूर्ण करते हैं विज्ञापनदाता जो मुक्त हस्त से विज्ञापन देकर अपनी आस्था और विश्वास को दृढ़ता से प्रकट करते है ।

विज्ञापन कार्य को सुचारु रूप से सचालन करते हैं हमारे प्रवध सम्पादक श्री महेन्द्र कुमार जी पाटनी एव उनका प्रवन्ध मण्डल । उनकी लगन व उत्साह के साथ प्रयास से यह कार्य सभव हो सका है । सभा आपके प्रति आभारी रहेगी ।

अर्थ सग्रह मे श्री ताराचद जी साह एडवोकेट एव श्री कैलाशचद जी सौगाणी के नेतृत्व मे सर्वश्री वसत कुमार जी, योगेश टोडरका, शरद गगवाल, प्रेमचद जी हेदरी, भागचद जी छावड़ा, सुरेश जी वज, विमलकुमार जी गोधा एव उत्तम जी वैद का सहयोग भी नही भुलाया जा सकता ।

राजस्थान जैन सभा के अध्यक्ष श्री रमेश चन्द्र जी गगावाल का योगदान तो महत्वपूर्ण रहा है, मैं उनके प्रति कृतज्ञता प्रग्ट किये विना नही रह सकता ।

मैं श्री कैलाश चन्द जी साह का भी आभारी हूँ उन्होंने स्मारिका का सुन्दर प्रकाशन करवाने मे अपना पूर्ण सहयोग दिया । मैं उन सब व्यक्तियो के प्रति जिनका जाने-अनजाने सहयोग प्राप्त हुआ है, हृदय से आभार प्रकट करता हूँ । उनके सहयोग से ही स्मारिका का प्रकाशन सभव हो सका है ।

प्रेमचन्द छावड़ा
मत्री

सम्पादकीय

विज्ञ स्वाध्याय प्रेमियों के सम्मुख स्मारिका का यह 30वाँ अंक प्रस्तुत करते हुए हमें अति प्रसन्नता है। पूर्व की भांति यह पाँच खण्डों में विभाजित है–1. महावीर : जीवन सिद्धान्त और व्यवहार 2. शाकाहार, संयम और ध्यान 3. साहित्य एवं पुरातत्व 4. विविध 5. आंगल् भाषा। कहने की आवश्यकता नहीं की इन खण्डों में संग्रहित सभी रचनायें पठनीय/मननीय हैं। इस हेतु हम सभी विद्वान लेखकों, कवियों के आभारी हैं। विशेपतः आभारी हम विद्वान साधु-जनों, आचार्य तुलसी जी, उ. मुनि भरत सागर जी, उ. मुनि कनकनन्दी जी, मुनि गुणधरनन्दी जी, मुनि सुखलाल जी एवं आर्यिका स्याद्वादमति जी के हैं जिनकी रचनायें प्राप्त कर यह अंक निःसन्देह गौरवान्वित हुआ है, शास्त्र की कोटि में प्रतिष्ठित हुआ है। अखिल भारतीय स्तर के वहुचर्चित लव्धप्रतिष्ठ वरिष्ठ विद्वान एवं चिन्तक प्रो. लक्ष्मी चन्द जैन, डा. लक्ष्मीनारायण दुवे पुरात्तत्वाविद डा. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी आदि के हम आभारी हैं जिन्होंने गत वर्षों की भाँति हमारे निवेदन पर अपनी अमूल्य कृतियों से इस अंक का गौरव वढाया है।

आज विज्ञान के प्रयोगों से दो महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आये हैं–

1. कुनैन मलेरिया के मच्छरों पर निष्प्रभावी 2 वायो केमस्ट्री के क्षेत्र में कीटों द्वारा ऊँचें स्तर की कम्पोस्ट खाद का निर्माण। एक में जीव तिर्यक् रूप से मरण परीषह सहता सहता परीषह-जय, मरण को जीत लेता है। दूसरे में जीव के माध्यम से पुद्गल जगत में इष्ट/अनिष्ठ भारी परिवर्तन आता है। दोनों तथ्य तपस्या और आत्मरूपान्तरण की ओर अंगुली निर्देश कर रहे हैं। जिन्हें असम्भव कल्पना मानकर, मात्र अतिशयोक्तियाँ मानकर, संभवतः तीर्थंकरो के काल में भी और वाद में भी, सामान्य जन जैन तपस्या और अध्यात्म के मार्ग से उदासीन रहते रहे है, मोक्ष पुरुषार्थ की चर्चा छोड़ मात्र त्रिवर्ग चर्चा तक ही स्वयं को, अपने आचार्यत्व को सीमित करते रहे हैं उन्हें यह सहज समझ में आना चाहिए कि सर्व कषाय-कालुष्य, अज्ञान, दुर्वलता आदि से मुक्ति के मार्ग का पाथिक महत्ता न केवल अपने लिए ही अनन्त आनन्द का अन्तरंग लोक रचता है, वरन् चारों ओर के जीव जगत को, पर्यावरण को भी वह दीप्ति प्रदान करता है/उससे दीप्ति प्राप्त होती है, जो अन्य किसी भौतिक जगत की तकनीक से संभव नहीं है। जैनाचार्यों का मानना है कि वाह्य कर्म-नोकर्मवर्गणायें शोभन अशोभन रूप, पुण्य पाप रूप रागी वीतरागी मानव के सानिध्य में आकर उसके विना चाहे स्वतः हो जाती है। वस्तु स्वरूप की यह समझ ही जैन साधना का, जीवन पद्धति का, मोक्ष पुरुषार्थ सहित सम्यक् चतुर्वर्ग का आधार है। अतः आश्चर्य नहीं कि आज राष्ट्रीय अन्तराष्ट्रीय स्तर पर सर्वत्र सशक्त स्वीकृति तीर्थंकरो के अहिंसा और अपरिग्रह के मार्ग के पक्ष में निर्मित

होती जा रही है । अत इस अक मे चाहे तीर्थंकरो के करिश्मे की चर्चा हो, चाहे ध्यानी के प्रभाव की, ध्यान फल की, शाकाहार सयम की या पोरफिरी की अज्ञानी सोने वाले लोगो से दूर एकात ज्ञानाराधना की, हर चर्चा गम्भीर पठन/मनन का विषय है ।

अत मे 22 मार्च तक प्रवास मे रहने और फिर ज्वरग्रस्त हो जाने से मैं अपने कर्तव्य का सम्यक् निर्वाह नही कर पाया हूँ तथा इस कारण रही हुई अशुद्धियों और अन्य कमियो का मुझे दु ख है । सहयोगी सम्पादक बन्धु डॉ प्रेमचन्द रावका, श्री प्रेमचन्द हैदरी आदि ने यदि परिश्रम पूर्वक कार्य को नही समेटा होता तो इस वर्ष के अक का प्रकाशन ही सम्भव नही था। इसी कड़ी मे चि जिनेन्द्र कुमार का प्रूफ रीडिग मे सहयोग व श्रम भी उल्लेखनीय है ।

सभा के अध्यक्ष, मत्री एव अन्य कार्यकर्ताओं का मैं आभारी हूँ जिन्होंने गत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी जिनवाणी की थोड़ी सेवा का हमे पात्र समझा । समय पर सुन्दर मुद्रण का सारा श्रेय जैना प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स के मालिक श्री कैलाशचन्द साह के लगन पूर्ण परिश्रम एवम् श्री सुरेश चन्द गोधा, श्री सुनील पाटनी को हैं ।

ज्ञानचन्द बिल्टीवाला

आभार

राजस्थान जैन सभा की कार्यकारिणी ने, मेरी व्यस्तता के कारण विनयपूर्वक असमर्थता हेर करने के उपरान्त भी मुझे महावीर जयन्ती स्मारिका के प्रवन्ध सम्पादन का कार्य इस वर्ष मुझे ही करने का निर्देश दिया - इस विश्वास के लिए मैं सभा की कार्यकारिणी का आभारी

सभा द्वारा प्रकाशित होने वाली स्मारिका का यह 30 वां अंक है जो कि 1008 ।वान महावीर की 2591 वीं पावन जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित हो रही है - इस महत्व- ी स्मारिका को आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे वहुत ही प्रसन्नता हो रही है ।

स्मारिका के लेखों का चयन का महत्वपूर्ण कार्य होता है - इसी कारण इस स्मारिका संदर्भ ग्रन्थ के रूप में भी देखा जाता है । दूसरे, महत्वपूर्ण लेखों के कारण ही जैन धर्म पयक विषयों पर डाक्टरेट करने वालों में भी इस स्मारिका की वहुत ही मांग रहती है । ारिका के प्रधान सम्पादक श्री ज्ञानचंद विल्टीवाला तथा इनके सहयोगी सर्व श्री सौभागमल वका, डॉ. प्रेमचन्द रांवका, कैलाशचन्द साह व प्रेमचन्द हैदरी का अत्यन्त आभारी हूँ । ारिका के लेखक गणों का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने इस स्मारिका के लिए सार र्भित लेख भिजवाकर स्मारिका के गौरव का उत्तरोत्तर वढ़ाने में महत्वपूर्ण योग दिया है ।

स्मारिका के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग महत्वपूर्ण होता है इसके विना स्मारिका काशन हो ही नही सकता है । प्रिन्टिंग व कागज की कीमतें काफी वढ़ रही है । इसके ातिरिक्त स्मारिका की छपाई भी इस वार ऑफसैट पर करवाई गई है जिससे इसकी सुन्दरता ो वढ़ ही गई है परन्तु व्यय भी वढ़ गया है इस कारण विज्ञापन दरों में भी वृद्धि करनी पड़ी : इसके लिए मैं विज्ञापन दाताओं से क्षमाप्रार्थी हूँ । मैं समस्त विज्ञापन दाताओं का आभारी हूँ जेन्होंने अपने व्यापारिक/औद्योगिक प्रतिष्ठानों के विज्ञापन प्रदान कर आर्थिक सम्वल प्रदान केया है ।

सभा के अध्यक्ष श्री रमेशचन्द गंगवाल व मंत्री श्री प्रेमचन्द छावड़ा का मै वहुत ही आभारी हूँ जिन्होंने स्मारिका के लिए विज्ञापन के रूप में आर्थिक सहयोग प्रदान कराने में पूर्ण सहयोग दिया है । स्मारिका के कार्य के लिए जव भी इन्हें जहां के लिए भी अनुरोध किये दोनों महानुभाव ही सक्रियता से सहयोग के लिए तत्पर रहे ।

स्मारिका के विज्ञापन जुटाने में प्रवन्ध मंडल के सदस्यगणों के अतिरिक्त सर्व श्री अरूण सोनी, अरूण काला, सुरेन्द्र मोहन, अरूण कोठीवाल, एन. के. गोधा, वी. के. जैन, श्यामलाल जैन, रमेशचन्द अजमेरा, आर. के. जैन, भागचन्द छावड़ा, कमल वावू जैन, कमलकुमार जैन, डॉ. कुमार गंगवाल, मन्नालाल जैन, पूरण प्रकाश जैन, कैलाशचन्द दूधवाले, महावीर प्रसाद जैन,

आर पी सीगाणी, एम पी जैन, वावू लाल सेठी, सुरेशचद वज, भागचन्द सौगाणी, श्रीमती इन्दु गगवाल, सुधीर वाकलीवाल, अजय काला, ए के जैन, के सी छावड़ा, राजेश पापडीवाल, चेतन कुमार वाकलीवाल, सजीव जैन, निर्मल कुमार गोदीका, आर के जैन, एम सी जैन, जी सी जैन, प्रेमचद सौगाणी व कार्यकारिणी के अन्य सदस्यो का तथा जिनके नामो का उल्लेख नही हो पाया है, उन सभी का मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

मैं सर्व श्री ए के जैन, पी सी काला, अविन्द्र जी लड्डा, एम एल जैन का भी हृदय से आभारी हूँ जिन्होने स्मारिका म आर्थिक सहयोग जुटाने मे सहायता की। मुझे विश्वास है कि भविष्य मे भी इनका इसी प्रकार से सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

स्मारिका के लिए विज्ञापन जुटाने मे प्रवन्ध मडल के सदस्यगणो के योगदान से ही आर्थिक सहयोग प्राप्त हो पाया है उनके प्रति मैं आभार प्रदर्शित करता हूँ।

जैना प्रिटर्स एड स्टेशनर्स के श्री अजय साह व प्रेस के कर्मचारियो के सहयोग से यह स्मारिका समय से प्रकाशित हो पाई है, मे उनका आभारी हूँ।

स्मारिका मे यदि किसी प्रकार की त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ आशा है पाठक उसे उदार हृदय से क्षमा करेगे तथा त्रुटियो व सुझावो से अवगत करावेगे जिससे भविष्य मे ध्यान रखा जा सके।

अन्त मे मैं स्मारिका मे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े सभी महानुभावो के प्रति आभार प्रकट करते हुए भविष्य में सहयोग की कामना करता हूँ।

जय महावीर

महेन्द्रकुमार पाटनी
प्रवन्ध सम्पादक
D–127, पाटनी भवन, सावित्री पथ
वापू नगर, जयपुर

राजस्थान जैन सभा का संक्षिप्त परिचय

दिगम्बर जैन समाज के प्रवुद्ध कार्यकर्ताओं, चिन्तकों, समाज सेवकों ने एवं संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने समाज को सुसंगठित करने उसमें धार्मिक, शैक्षणिक, बौद्धिक तथा समाज में व्याप्त कुरुतियों को दूर करने, मानव सेवा हितार्थ मिलकर कार्य करने के लिए लगभग 40 वर्ष पूर्व एक संगठन राजस्थान जैन सभा के नाम से गठित किया जिस का विधिवत् विधान तैयार करवाकर सन् 1952 में उसे राजस्थान सोसायटी एक्ट के तहत पंजीकृत करवाया ।

सभा के मुख्य लक्ष्य : समाज को संगठित करना, सामाजिक गतिविधियों को गति प्रदान करना, समाज में व्याप्त कुरुतियों को दूर कराने का प्रयास करना, जैन मान्यताओं व हितों की रक्षा करना, समाज में धार्मिक एवं शैक्षणिक ज्ञान की अभिवृद्धि हेतु सहयोग करना, मानव सेवा के कार्यों को प्रश्रय देना आदि कार्यों की परिपालना ही संगठन का मुख्य लक्ष्य है ।

सभा द्वारा आयोजित मुख्य गतिविधियाँ : अपने लक्ष्यों की पूर्ति हेतु सभी की प्रमुख गतिविधियाँ निम्न प्रकार है–

दसलक्षण पर्व : महान् चिन्तक-विचारक एवं स्पष्ट वक्ता स्व. चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ की प्रेरणा और सहयोग से भाद्रपद शुक्ला पंचमी से चतुदर्शी दस दिन तक श्री दिगम्बर जैन मन्दिर वड़े दीवानजी के प्रागंण में प्रतिवर्ष सांयकाल दस धर्मों पर ख्याति प्राप्त विद्वानों के प्रवचन कराये जाते हैं एवं समाज सुधार सम्वन्धित विपयों पर अधिकृत विद्वानों की चर्चा आयोजित की जाती है तथा समाज की विभिन्न शिक्षण संस्थाओं, महिला मण्डलों को आमंत्रित कर सांस्कृतिक व संगीत के माध्यम से आध्यात्मिक कार्यक्रम इस समारोह में आयोजित किये जाते हैं ।

क्षमापन समारोह :

दसलक्षण पर्व की समाप्ति पर प्रतिवर्प रामलीला प्रांगण पर क्षमापन समारोह सामूहिक रुप से मनाया जाता है, जिसमें सभी जैन समाज के धर्मावलंवियों को आमंत्रित किया जाता है, उस अवसर पर धर्म प्रभावना के प्रोत्साहित करने के लिये, एक माह, दस दिन के उपवास की तपस्या करने वालों तथा समाज के प्रमुख धर्म प्रेमियों और विशिष्टजनों को सम्मानित किया जाता है तथा धर्मानुकूल आचार्य के आधार की मन्दिर जी में मण्डलों द्वारा वनाई गई झांकियों की श्रेष्ठता पर प्रोत्साहन स्वरूप प्रशस्ति देकर सम्मानित किया जाता है । समय-समय पर धर्म गुरुओं को सभा को सम्वोधित करने के लिये आमंत्रित किया जाता है ।

महावीर निर्वाण महोत्सव :

निर्वाण दिवस पर धर्म गुरुओं, पण्डितों, एवं विद्वज्जनों को आमंत्रित कर भगवान महावीर के निर्वाण दिवस की महत्ता पर प्रकाश डालने के लिये एकसभा का आयोजन गोपाल जी के रास्ते स्थित श्री महावीर स्वामी के मन्दिर प्रांगण पर किया जाता है ।

धार्मिक एव आध्यात्मिक प्रशिक्षण शिविर

बच्चो मे धार्मिक एव आध्यात्मिक ज्ञान की अभिवृद्धि हेतु इस वर्ष वृहत प्रशिक्षण शिविर श्री दिगम्बर जैन मन्दिर छोटे दीवान जी एव घी वालो के रास्ते मे स्थित दिगम्बर जैन पद्मावती कन्या सीनियर विद्यालय पर लगाया गया जिसमे लगभग 583 बच्चो ने योग्य विद्वानो से ज्ञान प्राप्त किया । इस हेतु विधिवत् एक परीक्षा ली गई जिसमे प्रथम, द्वितीय, तृतीय आने वाले बच्चो को क्रमश 500/-250/-150/ रुपये की राशि पुरस्कार स्वरुप व हर बच्चे को एक प्रमाण पत्र सभा की ओर से भेट किया गया । इस शिविर मे आने वाले बच्चो को धार्मिक पुस्तक व 2 पुस्तिकाए व पैन्सिल भी बच्चो को वितरित की गई ।

जैन मेला

समाज को सगठित करने, सामाजिक प्रवृत्तियो को बनाये रखने, जन चेतना के लिये, प्रतिवर्ष सभा द्वारा जैन मेले का आयोजन किया जाता रहा है, इसमे, जैन साहित्य प्रदर्शनी,जैन पत्र पत्रिका प्रदर्शनी, बच्चो की कलात्मक सामग्री की प्रदर्शनी, चित्रकला प्रदर्शनी, मेहन्दी, रगोली, खेलकूद, प्रतियोगिताए सामूहिक भोज, घोड़े, हाथी की सवारी, मेले मे महारानी-महाराजा, राजकुमार-राजकुमारी का लाटरी द्वारा चयन, वयोवृद्ध पुरुष व महिलाओं का सम्मान तथा समाज सेवियों व कार्यकर्ताओं का सम्मान आदि कार्य-क्रम होते हैं ।

साहित्य प्रकाशन

सामाजिक सास्कृतिक चेतना के विकास और ऐतिहासिक जानकारी के लिय सभा द्वारा समय-समय पर साहित्य का प्रकाशन किया जाता है । प्रतिवर्ष एक वृहत महावीर जयन्ती के अवसर पर एक स्मारिका जिसमे देश के ख्याति प्राप्त विद्वानो के लेख भगवान महावीर के सदेश एव सिद्धान्तो के आधार पर सकलित कर प्रकाशित की जाती है । इसे विश्वविद्यालयो मे आज सन्दर्भ ग्रन्थ के रुप जाना जाता है । इसके अलावा भी पिच्छी, कमण्डल, निजामृतपान (लेखक आचार्य श्री विद्या सागर जी) भगवान महावीर (लेखक-मास्टर माणक चन्द्र जी जैन) तीर्थंकर महावीर (डा हुकुमचन्द भारिल्ल) चादनपुर के बाबा एव धम्मम् शरणम् (दोनो पुस्तको के लेखक-श्री प्रवीण चन्द्र जी छाबड़ा) सुखी जीवन प्राप्ति के दस सोपान (लेखक मुनि 108 श्री गुणधर नन्द जी) आदि कई ग्रन्थो का प्रकाशन सभा द्वारा किया गया है ।

महावीर जयन्ती समारोह

राजस्थान जैन सभा प्रतिवर्ष भगवान महावीर की पावन जन्म जयन्ती समाज के सभी आयु वर्गों के लोगो को उनकी रुचि के अनुसार विभिन्न कार्यक्रम भगवान महावीर के सन्देश जन-जन तक पहुँचाने के लिये आयोजित करती है—इसी क्रम मे बालको के लिये चित्रकला, वाद-विवाद, एव निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन किया जाता है—जिससे बच्चो मे सस्कृति, इतिहास एव कला के प्रति अभिरुचि बढ़े ।

भक्ति सध्या

जैन सिद्धान्तो के आधार पर रचित समाज से विभिन्न भजन मण्डलियो एव रुचि रखने वाले व्यक्तियो, भजन-नृत्य नाटिका आदि कार्यक्रम को आमन्त्रित कर विशाल रूप मे आयोजित की जाती है ।

विचार गोष्ठी :

भगवान महावीर के सन्देशों की तथा वर्तमान परिस्थितियों में देश को उसकी आवश्यकता एवं सुखी मानव जीवन यापन के लिये विभिन्न ख्याति प्राप्त विद्वानों को बुलाकर उनके चिन्तन-अध्ययन के आधार पर एक विचार गोष्ठी आयोजित की जाती है ।

सांस्कृतिक संध्या :

भगवान महावीर के संदेशों पर आयोजित बच्चों की रुचि के संगीत-नृत्य, काव्य पाठ नाटक आदि कार्यक्रम सांस्कृतिकक संध्या में आयोजित किये जाते है।

कवि सम्मेलन :

गत कई वर्षों से सभा जैन सिद्धान्तों के अनुकूल ख्याति प्राप्त कवियों को आमंत्रित कर एक विशाल कवि सम्मेलन का आयोजन किया जाता है ।

प्रभात फेरी :

महावीर जयन्ती की पूर्व प्रातः जन चेतना और प्रभावना के लिये एक विशाल प्रभात फेरी-शहर के मुख्य बाजारों में निकाली जाती है और कार्यक्रम पर झण्डारोहण के पश्चात् विसर्जित की जाती है ।

विशाल जुलुस :

महावीर जयन्ती के दिन प्रातः 7 वजे महावीर पार्क से एक विशाल जुलूस जिसमें समाज की प्रमुख शिक्षण संस्थाओं के बालक, जिनवाणी रथ, विभिन्न मन्दिरों द्वारा जैन संस्कृति के अनुकूल झांकियां, वैण्डवाजे, हाथी, घोड़े, ऊँट, भजन मण्डलियां आदि होते हैं -शहर के मुख्य वाजारों-चौड़ा रास्ता, त्रिपोलिया, जौहरी वाजार, वापू वाजार होता हुआ रामलीला मैदान पहुँचता है जिसमें हजारों की संख्या में साधर्मी बन्धु सम्मिलित होते है जो वाद में एक विशाल आम सभा में परिवर्तित हो जाता है ।

आम सभा :

रामलीला प्रांगण पर एक विशाल आम सभा आयोजित की जाती है जिसमें लगभग 20 से 25 हजार नर-नारी उपस्थित रहते है । उस सभा में देश के ख्याति प्राप्त राजनैतिक, धर्म शास्त्री विद्वान विभूतियों को भगवान महावीर के सन्देशों को प्रसारित करने हेतु आमंत्रित किया जाता है । उस अवसर पर समाज सेवियों को सम्मानित किय। जाता है एवं सभा द्वारा प्रकाशित स्मारिका का विमोचन भी उपस्थित मुख्य अतिथि द्वारा कराया जाता है ।

रक्तदान :

महावीर जयन्ती के दिन प्रातः 9 वजे से रामलीला प्रागंण पर एक विशाल रक्तदान शिविर का आयोजन एस. एम. एस. हास्पिटल के सहयोग से आयोजित किया जाता है जिसमें 150 से अधिक समाज के सदस्य, युवक युवतियां रक्तदान करते हैं जिससे सैकड़ों प्राणियो की जीवन रक्षा होती है । यह एक उदाहरणीय सेवाकार्य है - राजस्थान में एक शिविर में एक दिन में सर्वाधिक रक्तदान कराने का सौभाग्य केवल राजस्थान जैन सभा को ही है ।

चक्षुदान :

महावीर जयन्ती के दिन मरणोपरान्त चक्षुदान के लिये लोगों को प्रेरणा और संकल्प पत्र भराये जाते है ।

समाज सुधार के कार्य

सामाजिक चेतना और समाज मे व्याप्त कुरुतियो को दूर करने के लिये कार्यक्रम आयोजित करना, समाज सुधारको के द्वारा प्रवचन करवाना तथा निवेदन के रुप मे पर्चे वटवाकर समाज की आकाक्षाओं के प्रति आकर्षित करना तथा व्याप्त कुरुतियो को छोड़ने के लिये निवेदन करना इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु सभा द्वारा इस वर्ष महावीर जयन्ती पर एक प्रश्न पत्र भी प्रसारित किया जा रहा है जिसके आकलन से समाज द्वारा दिशा निर्देश प्राप्त होगा। समाज के जरुरतमन्द शिक्षार्थियो को पुस्तक, पोशाक, स्कूल फीस आदि की व्यवस्था करना, मरीजो को दवा, उपचार आदि की व्यवस्था कराना, खाद्य सामग्री, चश्मे आदि आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था गोपनीय रख कर करवाना।

राष्ट्रीय सेवार्थ सभा द्वारा वृक्षारोपण का कार्यक्रम भी किया गया है -पदमपुरा मार्ग पर स्थित जो वृक्ष दृष्टिगत हो रहे है वे सभा के सदस्यो द्वारा ही लगाये गये।

वर्ष 1992-93 की विशेष उपलब्धिया

1- सभा द्वारा एक विशाल धार्मिक एव अध्यात्मिक प्रशिक्षण शिविर आयोजित किया गया जिसमे 583 बच्चो ने धर्म शिक्षा प्राप्त की।

2- महावीर जयन्ती पर "भगवान महावीर कैन्सर एव अनुसधान केन्द्र" खोलने की घोषणा और कार्य रुप मे परिणित।

3- 23 मार्च को मौन जुलूस मे सभा के आह्वान पर पूर्ण सहयोग और अभूतपूर्व सफलता।

4- भगवान ऋषभदेव जयन्ती के कार्यक्रमो मे अभिवृद्धि की गई। रथयात्रा, कलशाभिषेक, भक्तिसध्या आदि कार्यक्रम और आयोजित किये गये।

5- जयपुर मे बन रहे बूचड़ खाने को रुकवाने का श्रेय भी सभा को ही है।

6- महावीर जयन्ती के अवसर पर सभा द्वारा प्रत्येक जैन मन्दिर को जैन ध्वज वितरित किया जा रहा है।

भावी योजनाऐं

सगठन को शक्तिशाली और लोकप्रिय बनाने के लिए सदस्यो की सख्या बढ़ाना व राजस्थान की अन्य प्रान्तो मे इसकी शाखाये खोलना।

समाज के सभी आयुवर्ग के लोगो को सभा के कार्यक्रम मे जुड़ने के लिये धर्मानुकूल उनकी रुचि के अनुसार विशेष कार्यक्रम आयोजित करना, महिला वर्ग व बाल वर्ग के लिये अलग-अलग प्रवृत्तियाँ चालू करना।

समाज के वृद्धजना के लिये परिस्थितिवश घर मे आवश्यक व्यवस्थाओं के अभाव मे जीवनयापन ठीक से व्यतीत न होने के कारण सेवार्थ एक वृद्धाश्रम खोलने की योजना सभा के विचाराधीन है।

सभा का एक स्थाई भवन बनवाकर महिलाओं के लिये गृह उद्योग प्रशिक्षण दिलवाने आदि कार्यो की व्यवस्था करना भी विचाराधीन है।

प्रेमचन्द छावड़ा
मन्त्री

राजस्थान जैन सभा, जयपुर
पदाधिकारी एवं कार्यकारिणी के सदस्यगण – वर्ष 1993

से दायें)

पंक्ति : हुए) — सर्वश्री प्रकाशचन्द ठोलिया, ताराचन्द साह (उपाध्यक्ष), राजकुमार काला, रमेश गंगवाल (अध्यक्ष), रतन लाल छाबड़ा (उपाध्यक्ष), प्रेमचन्द छाबड़ा (मंत्री), महेन्द्र कुमार पाटनी

द पंक्ति : हुए) — सर्वश्री शान्ती कुमार गोधा, भागचन्द छाबड़ा (स. मंत्री), विनय जैन, डॉ. सुभाष गंगवाल, कैलाशचन्द साह (कोषाध्यक्ष), सुरेन्द्र मोहन, कमल बाबू जैन (स. मंत्री)

य पंक्ति : हुए) — सर्वश्री सुधीर बाकलीवाल, राकेश छाबड़ा, अरुण काला, अरुण कोड़ीवाल, उत्तम सोनी एवं [illegible]
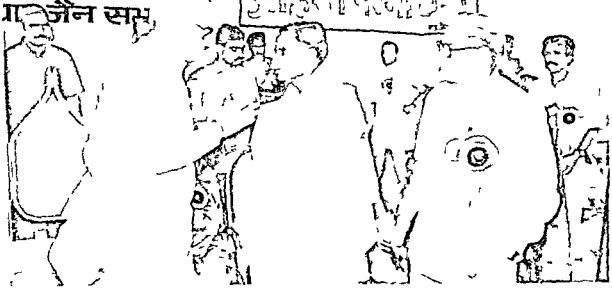
महावीर जयन्ती पर समाजसेवी श्री रूपचद जी तेरापथी
का सम्मान करते हुए तत्कालीन मुख्यमत्री श्री भैरोसिंह जी शेखावत
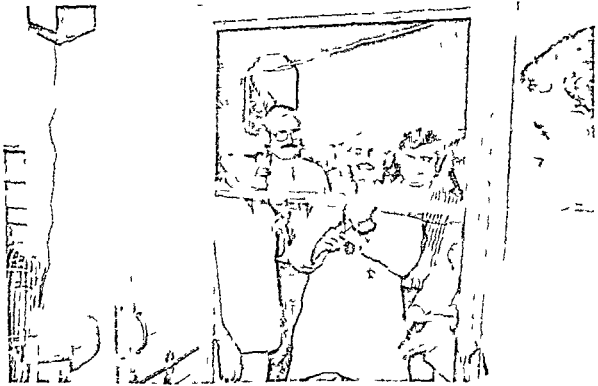
महावीर जयन्ती के अवसर पर आयोजित 'रक्तदान शिविर'
का उद्घाटन करते हुए श्री माणक काला

प्रभात फेरी का एक दृश्य

महावीर जयंती पर आयोजित शोभा यात्रा का भव्य दृश्य

राजस्थान जैन सभा द्वारा महावीर जयन्ती के
शुभ अवसर पर आयोजित चित्रकला प्रतियोगिता

महावीर जयन्ती के अवसर पर आयोजित निवन्ध प्रतियोगिता

महावीर जयन्ती के अवसर पर महावीर जयन्ती स्मारिका का विमोचन करते हुए
राजस्थान के राज्यपाल महामहिम डा. एम. चैन्ना रेड्डी
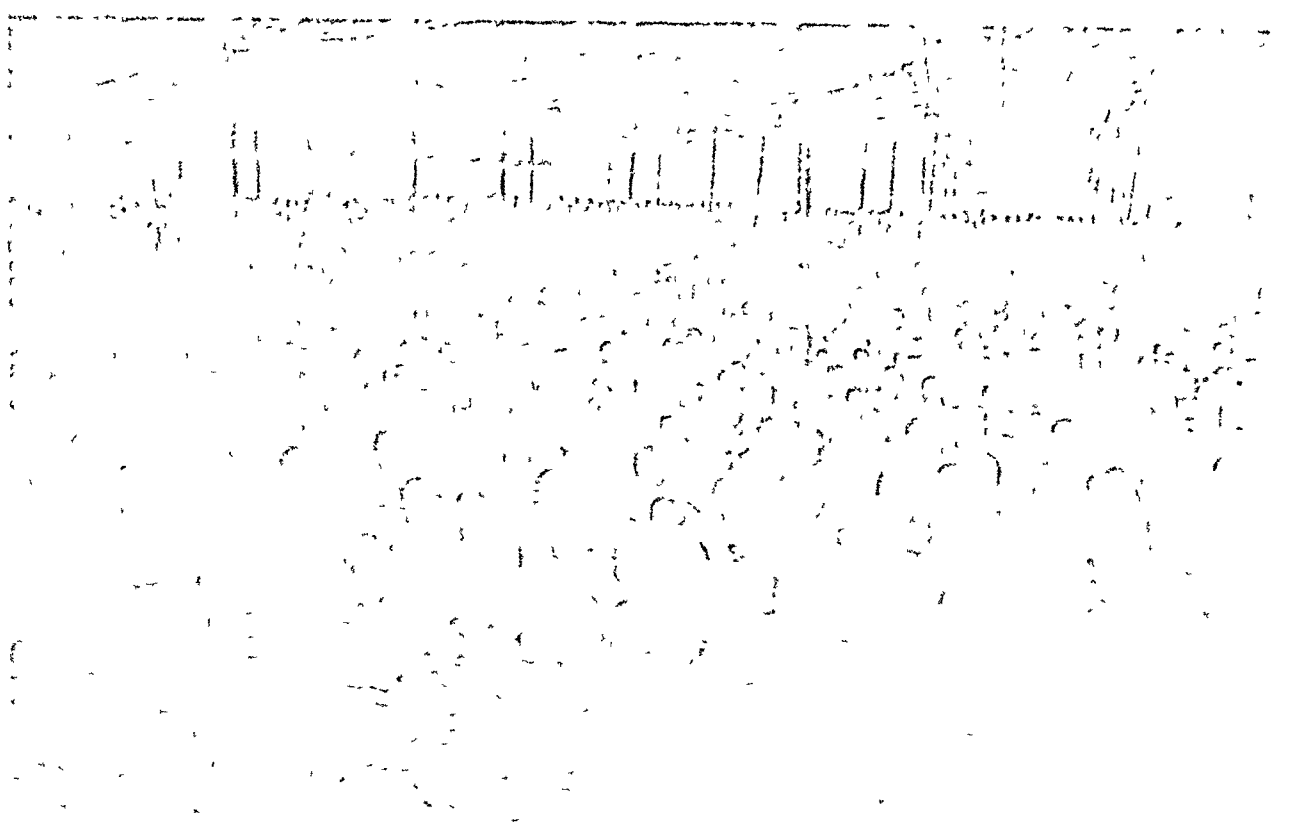
महावीर जयंती पर अपार जन समूह
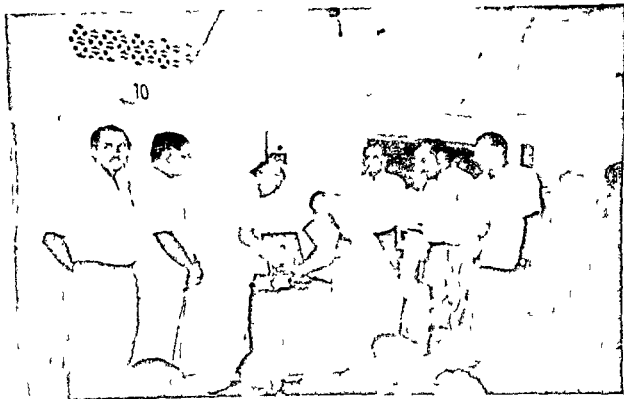
प्रशिक्षण शिविर का दीप प्रज्वलित करते हुए
अध्यक्ष श्री रमेशचन्द जी गगवाल
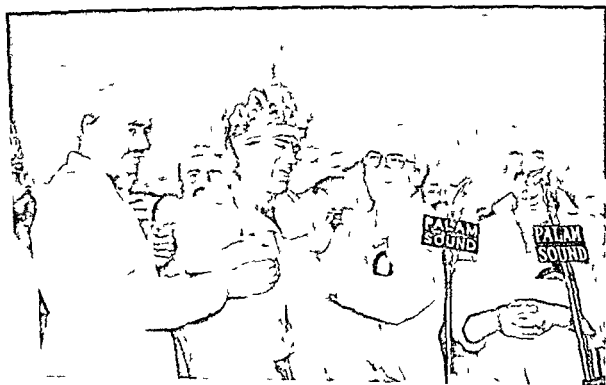
कल्पद्रुम विधान के अवसर पर केन्द्रीय मन्त्री
श्री राजेश पायलेट का सभा के अध्यक्ष श्री रमेश गगवाल द्वारा सम्मान

प्रथम खण्ड

महावीर : जीवन, सिद्धान्त एवं व्यवहार

1.	वीर-स्तवन		1
2.	भ. महावीर का अप्रतिम वीरत्व	मिश्रीलाल शास्त्री	2
3.	तीर्थकरों के जीवन के पाँच आश्चर्य	मुनि गुणधरनन्दी जी	5
4.	जैन धर्म और उसका तात्विक स्वरूप	डॉ. श्री रंजन सूरिदेव	9
5.	सार्वभौम धर्म के प्रणेता : महावीर	आचार्य तुलसी	12
6.	मैं अनन्त की दीप शिखा हूँ	मिश्रीलाल जैन	13
7.	तीर्थकर महावीर और उनके क्रान्तिकारी कदम	डॉ. महेन्द्र सागर प्रचण्डिया	14
8.	महावीर का दर्शन	डॉ. आदित्य प्रचण्डिया	16
9.	जीवन की सात्विकता और विश्वशान्ति	प्रवीणचन्द छावड़ा	17
10	महावीर भ. आपको सौ-सौ वार नमन है	अनूपचन्द न्यायतीर्थ	20
11.	मान का मर्दन करो	उपा. मुनि भरतसागर	21
12	क्रोध का शमन कीजिये	आर्यिका स्याद्वादमती	26
13	अहिंसा जीवन में उतरे	डॉ. नरेन्द्र भानावत	32
14.	वीरावतरण	गुलाबचन्द जैन	35
15.	अहिंसा परमो धर्मः	डॉ. शोभनाथ पाठक	36
16	भ. महावीर द्वारा प्रतिपादित अहिंसा की उत्तमता	डॉ. शोभनाथ पाठक	37
17	महावीर जयन्ती : एक अपूर्व अवसर	सत्यन्धर कुमार सेठी	40
18.	मानव जीवन और आचार संहिता	मोहनराज	42
19.	समाधिमरण क्यों व कैसे ?	ताराचन्द गोदीका	44
20	उच्छृंखल भोगवाद और महावीर की व्रत व्यवस्था	मुनि सुखलाल	47
21.	राष्ट्र को महावीर मय बनाने की आवश्यकता	डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	49
22	[illegible]	[illegible]	51
23	[illegible]	डॉ. [illegible] जैन	[illegible]

⁜ वीर-स्तवन ⁜

कीर्त्या भुवि भासि तया वीर त्वं गुण समुत्थया भासितया ।
भासोडुसभासितया सोम इव व्योम्नि कुन्दशोभासितया ॥ 136 ॥
तव जिन शासनविभवो जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः ।
दोषकशासनविभवः स्तुवन्ति चैनं प्रभाकृशासनविभव : ॥ 137 ॥
अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधत : स्याद्वादः ।
इतरो न स्याद्वादो सद्वितयविरोधान्मुनीश्वरास्याद्वादः ॥ 138 ॥
वहुगुणसम्पदसकलं परमतमपि मधुरवचनविन्यासकलम् ।
नयभक्त्यवतं सकलं तव देव मतं समन्तभद्रं सकलम् ॥ 143 ॥

हे वीर जिन ! आप उस निर्मल कीर्ति से, जो गुणों से समुद्भूत है, पृथ्वी पर उसी प्रकार शोभा को प्राप्त हुए हे जिस प्रकार कि चन्द्रमा आकाश मे नक्षत्र सभास्थित उस प्रभा दीप्ति से शोभता है जो कि कुन्दपुष्पा की शोभा के समान सब ओर से धवल है ॥ 136 ॥

हे वीर जिन ! आपका शासन माहात्म्य कलिकाल में भी जय को प्राप्त है । उसके प्रभाव से अनुशासन प्राप्त शिष्य जनो का संसार नष्ट हुआ है । इतना ही नही, किन्तु जो दोष रूप चाबुको का निराकरण करने मे समर्थ है और अपने ज्ञानादि तेज से जिन्होंने आसनविभुओं को निस्तेज किया है, वे भी आपके इस शासन माहात्म्य की स्तुति करते है । ॥ 137 ॥

हे मुनिनाथ ! 'स्यात्' शब्द-पुरस्सार कथन को लिये हुए आपका जो स्याद्वाद है वह निर्दोष है , क्योंकि दृष्ट और इष्ट प्रमाणों के साथ उसका कोई विरोध नही है । दूसरा 'स्यात्' शब्दपूर्वक कथन से रहित जो सर्वथा एकान्तवाद है वह निर्दोष प्रवचन नही है, क्योंकि वह दृष्ट और इष्ट दोनो के विरोध को लिये हुए है । ॥138 ॥

हे देव ! जो पर मत है वह मधुर वचनो के विन्यास से मनोज्ञ होता हुआ भी वहुगुण सम्पत्ति से विकल है, किन्तु आपका मत नयों के भंग रूप अलंकारों से अलंकृत है अथवा नयों की भक्ति रूप आभूषणों को प्रदान करता है और इस तरह बहुगुण सम्पत्ति से युक्त है, पूर्ण है और समन्तभद्र है ॥ 143 ॥

आचार्य समन्तभद्र कृत स्वयंभू स्तोत्र,
अनुवादक : पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

भगवान महावीर का अप्रतिम वीरत्व

☐ प मिश्री लाल शाह, शास्त्री

२५९१ वर्ष पूर्व भारत वसुधरा पर वैशाली मे चैत्रशुक्ला १३ को अवतरित भगवान महावीर का नाम स्मरण तन मन को अत्यन्त सुख प्रद लगता है । उनके चिन्तन स हमारा मानस अभूतपूर्व आनन्द म झूम उठता है । महावीर ने अपन-आपको निहारा और अपन वीरत्व को पाया । अन्तदृष्टि से स्व को समझा । तीस वर्ष की वय मे उनके यौवनोत्साह तरग को देखकर पिता श्री महाराज सिद्धार्थ और मातु श्री त्रिशला ने त्रिज्ञानधारी भ महावीर के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा । कुछ समय अवाक् रहकर महावीर न निवेदन किया, "आपकी वाणी लोकानुरजित परम्परा को सृजन करने वाली अवश्य है, परन्तु मेरी आत्मा मे विकसित दिव्य प्रकाश ने इसमे अवरोध की स्थिति पैदा कर दी है । क्या मानव की दृष्टि मात्र भोग लिप्सा तक ही सीमित रहे ? म अनादि से मोहवश अतीत मे अगणित समय तक असत् श्रद्धानी रहा । पर-द्रव्य को अपना मानने की भूल करता रहा । अव यथार्थ के निकट आया हूँ । अत निर्णय किया है कि वर्तमान मे हो रही हिसा का अहिसा मे परिवर्तन की स्थिति वनाऊँ । लोक कल्याण हेतु हिसक क्रूरतम वातावरण से मुक्ति का सूत्रपात मुझे युक्ति युक्त लग रहा है ।'

जव काललब्धि आती है तव प्रकृति मे इसी तरह के लोक हित के निमित्तो का सयोग वन जाता है । आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव के राजप्रासाद मे देवागना तिलोत्तमा का शरीर अतीव मनमोहक नृत्य प्रस्तुत करते-करते ही विलीन हो गया था । तत्क्षण तत्सदृश अन्य दवागना ने उस नृत्य की प्रक्रिया को सजाये रखा । इस सूक्ष्मता को स्वय आदि ब्रह्मा ताड गये थे । तव ससार की नश्वरता को अन्तदृष्टि मे समझ कर आदिनाथ तत्काल विरक्ति पथ पर अग्रसर हो गये ।

भ महावीर की तथ्योक्ति को सुनकर उनके द्वारा विहित साधना पथ को लोक समुदाय के अन्त करण ने आत्मसात कर लिया । परिणामत मार्गशीर्ष कृ १० को महावीर वैराग्य पथ पर अग्रसर हो गये । लोकान्तिक देवो ने उनके उत्तम व सत्य स्वरूप समारभ का भूरि भूरि अनुमोदन किया, लोकान्तिक देव स्वय ससार से विरक्त चोदह पूर्व क ज्ञाता जो होते ह । शरीर से राजकीय वेशभूषा उतार कर वर्धमान ज्यो ही निर्ग्रथ हुये और पचमुष्ठि से कश लुञ्चन किया समग्र वातावरण वराग्य युक्त हो गया ।

भ महावीर अरण्य की ओर ध्यानैकलीनता हेतु गमन कर गये । वे साधना सिद्ध्यर्थ अहिसादि पाच महाव्रतो को आत्मसात् करने हेतु अन्तर्लीन हो गये । महावीर ने अहिसा महाव्रत म षट्कायिक जीवो की विराधना के अभाव को ही परिगणित नही किया, अपितु द्रव्य हिसा निवृत्ति के साथ भाव हिसा परिहार को भी महत्व दिया । उन्होने अतरग मे राग द्वेष, काम,

क्रोध, ममता भावों के आत्मा में न आने देने को ही अहिंसा का वाच्यार्थ समझा । इस उत्कृष्ट अभिप्राय से उन्होंने अपनी आत्मा को भूषित करने की चर्या बनाई । वे ध्यान की स्थिति में मनोवाक्काय की चंचलता के अभाव में पाषाणवत् स्थिर मुद्रा में स्थित हो गये । एक कवि के शब्दों में -

सम्यक् प्रकार निरोध मन वच काय आत्म ध्यावते,
तन सुथिर मुद्रा देखि मृग गण उपल खाज खुजावते ।
.... तप तपैं द्वादश धरैं वृष दश रत्नत्रय सेवै सदा,
मुनि साथ में वा एक विचारैं चहैं नहिं भवसुखकदा ॥

अन्तरंग और वहिरंग रूप से द्वादश तप तपस्या का प्रमुख अंग माने गये है । अनशन में तो तपस्या का तत्व भरा हुआ है । वस्तुतः यही अविपाक कर्म निर्जरा का हेतु है । क्योकि इससे इच्छा निरोध, जितेन्द्रियता, स्वत्व परत्व समझने की यर्थाथता, परीषह जयत्व, ध्यानेकलीनता और उपसर्ग सहिष्णुता में सहज साध्य प्रवृति हो जाती है । यही मोक्षमार्ग का तत्र है ।

आत्म साधन मार्ग में महावीर शालिवृक्ष के नीचे ध्यान स्थित थे । ध्यानोपरान्त कूल ग्राम के नृप के घर आहार विधि वनी; पश्चात् विहार करते हुये उज्जैन के एक श्मशान में ध्यानलीन हो गये । श्मशान के मालिक स्थाणु ने देखा तो अनेक उपसर्ग किये, पर महावीर अविचल रहे। १२ वर्ष तप में वीता । अनन्तर जव महावीर आहार की चर्या मे अटपटी लेकर आ रहे थे, तो वंधनवद्ध चन्दना को देखकर रुके । पुण्योदय हुआ । चन्दना दर्शन मात्र से वंधन मुक्त हो गई। उसका शरीर कुन्दन हो गया । कोदों तंदुल वन गये, मिट्टी के पात्र भी स्वर्ण पात्र हो गये । सानन्द आहार दान हुआ और पञ्च आश्चर्य हुये, सती चंदना का यश दिग्दिगन्त व्यापी हो गया ।

स्वरूपाचरण ध्यान (शुद्धोपयोग) मे ध्यान, ध्याता, ध्येय का विकल्प नहीं रहता, कर्ता-कर्म-क्रिया एव दर्शन ज्ञान -चारित्र तीनो एक रूपता मे उद्योतित होने लगते है । ये शुक्ल ध्यान के परिणाम है । यह अष्टम गुणस्थान से प्रारम्भ होता है । चार घाति कर्मों के क्षय होने से तेरहवे गुणस्थान मे अरहन्त अवस्था प्रकट होती है । भ. महावीर को वेशाख शु. १० को ऋजु कूला के किनारे शालिवृक्ष के नीचे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई । वे अतीन्द्रिय ज्ञान के धनी लोकालोक के ज्ञाता दृष्टा हो गये ।

कैवल्य की प्राप्ति होने पर इन्द्र ने समवशरण (धर्मसभा) की रचना की । समवशरण के १२ सभाकक्षों में चतुर्णिकाय देवदेवांगना मुनि आर्यिका, मनुष्य, पशु-पक्षी होते है । भगवान की निरक्षरी दिव्य ध्वनि श्रोताओं के कर्णपुरों मे अतिशय के कारण साक्षरी होकर परिणमती है। उसे सब अपनी-अपनी भाषा मे ग्रहण कर परम हर्षित होते है ।

समवशरण में भगवान के विद्यमान होते हुये भी ६६ दिन तक दिव्य ध्वनि नहीं खिरी । तब इन्द्र इस रहस्य को समझा और अपनी वाक् चातुर्य से वैदिक विद्वान गौतम को ले आये । उन्होंने मानस्तंभ को देखने मात्र से गौतम का मान गलित हो गया और वह महावीर का शिष्य बन गया । परिणाम स्वरूप दिव्य ध्वनि हुई । वह दिन श्रावणी कृष्णा प्रतिपदा का था । दिव्य ध्वनि के कुछ प्रमुख अंश है-

अहिसा—महावीर के अनुसार जगत मे सब जीव जीना चाहते है । उनके प्राणो का वियोग करना ही हिसा नही है बल्कि दिल दुखाना भी हिसा है । सकल्पी हिमा कभी वैध नहीं है क्योंकि सबको अपने प्राण प्यारे ह । अत जो अपने प्रतिकूल हो, उसका प्रयोग दूसरे के लिये भी मत करो । हनन कर्म से परस्पर तीव्र कपाये पेदा हाती है, जिससे जन्म-जन्मान्तर तक वदला लेने की भावना चलती रहती हे । महावीर ने धर्म के नाम पर होने वाली हिमा का विरोध किया । उन्होने अहिसामय आचरण को ही शान्ति का मूल वताया ।

कर्मवाद—जा आत्मा के स्वभाव को ढ़क देवे, प्रकट न होने दे वही कर्म है । क्रोधादि आत्मा प्रदेशो के साथ वॅधकर आत्मा का स्वभाव ढ़क दते हे । मोक्षगामी जीवो के ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट होकर अष्ट गुणो मे परिवर्तित हो जाते हैं । यह जीव मन-वचन-काय कृत अपने परिणामो द्वारा वाधे गये शुभाशुभ कर्मों के उदयवशात् सुख-दु ख रूप फल को स्वय ही भोगता है । अत कर्म वन्ध से मुक्ति के लिये क्रोधादि कपाया पर विजय, नियत्रण पाना आवश्यक है, मन वचन काय की त्रिगुप्ति की पालना आवश्यक है ।

स्याद्वाद—यह महावीर की अनुपम प्ररूपणशैली है जो एकान्तवाद का निरसन करती ह। वस्तु के अनेक अन्त (धर्म स्वभाव) हैं । अनेक धर्मों की शैली ही स्याद्वाद है । द्रव्यार्थिक नय म आत्मा नित्य हे तो पर्याय दृष्टि से अनित्य भी । निरूपण म एक धर्म की प्रधानता रहती हे शप गाण । दोनो विवक्षाओं स वस्तु के विवेचन को समझना ही स्याद्वाद है। इससे विवादो का शमन होता है । अत स्याद्वाद शैली ही वस्तु का सत्याथ मापक यन्त्र ह।

भ महावीर के ३० वर्ष देशना काल मे वीते । मोक्ष के पूर्व २ दिन याग निरोध मे रहे । अघाति कर्मों का नाश कर ७२ वर्ष की आयु मे कार्तिक कृष्णा अमावस्या क प्रभात काल मे पावापुर (विहार) मे निर्वाण प्राप्त किया । शाश्वत मोक्ष -आवागमन म मुक्ति पाने मे वे अप्रतिम वीर कहलाये ।

❑

तीर्थंकरों के जीवन के पांच आश्चर्य

□ मुनि श्री गुणधरनन्दी

करिश्मे (आश्चर्य) का प्रथम चरण

जगत उद्धारक, दया के अवतार, भावी तीर्थंकर के जननी (माता) के गर्भ में आने के छ. माह पूर्व से ही इस पवित्र वसुन्धरा में मंगलमय आगमन की महत्ता सूचित करने वाले अनेक शुभ शकुन, आश्चर्यकारी घटनाएं, एवं शुभ कार्य सम्पन्न होते है। जन्मस्थली अयोध्या को छः माह पूर्व से ही इन्द्र की आज्ञा से देवता स्वर्गपुरी के समान बना देते है। एक बात ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक तीर्थंकर का जन्म अयोध्या में होता है और निर्वाण सम्मेद शिखर से होता है। परन्तु हुण्डावसर्पिणी काल दोष के कारण वर्तमान के उन्नीस तीर्थंकरों का जन्म अन्य क्षेत्र में हुआ है तथा चार तीर्थंकरो का निर्वाण भी अन्य क्षेत्र से हुआ है। भगवान के जन्म के 15 महिने पूर्व से अयोध्या नगरी में प्रतिदिन प्रातः, मध्यान्ह, सायंकाल और अर्द्धरात्रि मे साढ़े तीन करोड़ रत्नो की वर्षा होती है, अर्थात एक अहोरात्रि (24 घण्टे) में चौदह करोड़ रत्नों की वर्षा होती है। भावी तीर्थंकर के जीव को मनुष्य पर्याय प्राप्त करने के छ. महिने पूर्व से ही सुख, शान्ति, आनन्द की वृद्धि होने लगती है। जब भावी तीर्थंकर अपनी पूर्वपर्याय से च्युत होकर माता के गर्भ में अवतरित होते है तब माता 16 स्वप्न देखती है। हर प्राणी के शुभ,अशुभ कार्य होने से पूर्व कार्य को सूचित करने के रूप में स्वप्न दर्शन होता है। क्षत्र-चुडामणि काव्य में वादीभसिंह आचार्य ने कहा भी है "अस्वप्न पूर्व हि जीवानां न हि जातु शुभाशुभं" जीवों को कभी स्वप्न दर्शन के बिना शुभ या अशुभ नहीं होता है।

करिश्मे का द्वितीय चरण

प्राची के गर्भ में स्थित सूर्य प्रातः जब उदित होता है, तब चारों ओर शान्ति एवं आनन्द की लहरें छा जाती है। ठीक इसी प्रकार योग्य समय आने पर भावी तीर्थंकर जगत के उद्धार के लिये जन्म लेते हैं, तब सम्पूर्ण विश्व में शान्ति तथा आनन्द की लहरें छा जाती है। उस समय की आनन्द और शान्ति का कौन वर्णन कर सकता है? प्रत्येक प्राणी अन्तःकरण से जिनेन्द्र जन्म जनित आनन्द का अनुभव करता है। आचार्यों एवं कवियों ने यहां तक लिख दिया है कि नरक में नारकीय जीव अपने जीवन काल में कभी भी, एक पल अथवा क्षण भी आनन्द एवं शान्ति का अनुभव नहीं कर सकते है, परन्तु तीर्थंकर जन्म के अवसर पर आजन्म दुःखी नारकी जीवों को भी एक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त शान्ति एवं सुख की अनुभूति होती है। जन्म का शुभ समाचार विद्युत से भी अधिक वेग से तीनों लोक में फैल जाता है। जन्म के समाचार की सूचना करने के, स्व में कल्पवासी देवों के यहां स्वयमेव घंटा ध्वनि होने लगती है, जिससे

होने लगते है । कल्पवासी देवो के यहा घण्टे वजने लग जाते हैं तथा देवराज इन्द्र का सिंहासन स्वयमेव कम्पायमान हो जाता है और मस्तक झुक जाता है । उस समय इन्द्र चकित हो जाता हे और मन मे प्रश्न की लहरे छा जाती है कि 'मै देव और दानवो को दमन करने मे समर्थ हू, शक्र, पुरदर, इन्द्रादि नामधारी मेरे अकम्पित सिहासन को कपित करने वाला कौन पुरूप है ? उस समय सहसा इन्द्र के चित्त मे एक वात आ जाती है कि तीनो लोक मे ऐसा प्रभाव तीर्थंकर के सिवाय अन्य मे सम्भव नही है । तव वह अपने अवधि ज्ञान द्वारा यह जान लेता है कि जगत उद्धारक तीर्थकर प्रभु का जन्म हुआ ह और इसीलिए आसन कम्पायमान हुआ है । तदनन्तर वह सिहासन से 7 कदम आगे आ करके विनम्र भाव से प्रणाम करता है और जन्मकल्याणक मनाने विक्रिया से निर्मित 9 लाख योजन वाले ऐरावत हाथी पर इन्द्र इन्द्राणी के साथ वैठकर अनेक देवो से समलकृत होकर अयोध्या आते हैं । जन्मकल्याण मनाने के लिये चारो प्रकार के दवो का आगमन होता है । इन्द्र की आज्ञा से इन्द्राणी प्रसूति गृह से वाहर लाकर सुरराज के करतल मे वालक को सौंपती है । देवराज इन्द्र प्रथम वार दर्शन करके अत्यन्त आनन्दित होता हे । वह दो नेत्रो से दर्शन करके तृप्ति को प्राप्त नही होता है, अपनी विक्रिया से एक हजार नेत्र वनाकर प्रभु का दर्शन करता है । फिर प्रभु को ऐरावत हाथी पर विराजमान करके एक लाख योजन ऊचाई वाले सुमेरू पर्वत पर जन्माभिपेक के लिये ले जाता हे । वहा पर पाण्डुक शिला पर विराजमान करके क्षीर समुद्र के जल से अभिपेक करता ह । अभिपेक क वाद इन्द्राणी प्रभु को अनेक वस्त्राभूपण से समलकृत करती है ओर देव पुन ऐरावत हाथी पर वठा के उत्सव के साथ अयाध्या आ पहुँचते हैं । प्रभु को माता पिता को सापकर इन्द्र आान्द से युक्त होकर ताण्डव नृत्य करता है। तीर्थंकर के पुण्य प्रभाव से देश मे, राष्ट्र मे और विश्व मे प्रतिदिन धन-धान्य की, सुख समृद्धि की वृद्धि होती है, मध्यान्ह के सूर्य के सदृश देश उन्नति को प्राप्त होता है ।

करिश्मे का तृतीय चरण

वाल क्रीड़ा करते हुये जव यौवन प्राप्त होता है तव कोई कोई तीर्थंकर राजा तथा चक्रवर्ती तक वनकर राज्य शासन करते हैं । प्रभु राज्यभोग भोगते हुए भी जल से भिन्न कमल की भाति विपय भोगो से अनासक्त रहते हें मन धर्म ध्यान म ही रहता है, इसलिए प्रत्येक तीर्थकर 8 वर्प की आयु मे श्रावक धर्म के व्रत धारी हो जाते हैं । सभी तीर्थकर वैराग्य का कुछ कारण पाकर अनित्य, अशरण, दु खरूप ससार से तथा ससार के कारण भूत पुत्र, मित्र, कलत्रादि मे विरक्त हो जाते ह । उसी समय ब्रह्मलोक के अन्त मे रहने वाले लाकान्तिक देवो का आगमन होता है । वे तीर्थंकरो के वेराग्य के अवसर पर अपने स्थानो से पृथ्वी पर आते हैं और वराग्य की अनुमादना करके लौट जाते हे ।

प्रभु की वैराग्य भावना को जानकर इन्द्र चतुर्णिकाय के देवो के साथ तीर्थकर का दीक्षा महोत्सव मनाने आता है । तीर्थकर राज्य पाट त्याग करके वन की ओर प्रस्थान के लिए देव निर्मित सुदर्शना नामकी पालकी पर विराजमान हो जाते हे । उस पालकी को सर्वप्रथम मनुष्य सात कदम ले जाते ह फिर विद्याधर लोग सप्त पाद प्रमाण वहन करते हे, फिर देवतागण आकाश मार्ग द्वारा पालकी को दीक्षावन मे ले जाते है, सर्व अपेक्षा से रहित होकर त्रिसाक्षी (आत्मा सिद्ध, देवता) पूर्वक, समस्त वस्त्राभूपणो का विसर्जन करके "ॐ नम सिद्धेभ्य " का

स्मरण करते हुये पंचमुष्टि के द्वारा केश का लुंचन करते है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो पंचमगति को प्रस्थान करने के लिये द्रव्य, क्षेत्र, काल भव तथा भावरूप पंच परावर्तनों का मूलोच्छेद ही प्रभु कर रहे है। इन्द्र केशों का क्षीर समुद्र में विसर्जन करता है। प्रभु के दीक्षा अंगीकार करते ही मनः पर्यय ज्ञान के धारी हो जाते हैं, तथा मौन व्रत भी ग्रहण करते हैं ओर वे महान आत्म-यज्ञ में संलग्न हो जाते है। हर प्राणी के अन्दर क्रोधाग्नि, कामाग्नि, उदराग्नि रूप तीन प्रकार की अग्नि प्रदीप्त हैं। प्रभु क्रोधाग्नि में क्षमा की आहुति, कामग्नि में वैराग्य की आहुति तथा उदराग्नि में अनशन की आहुति अर्पण करते रहते है।

करिश्में का चतुर्थ चरण

कठोर अंतरंग वहिरंग तपस्या के द्वारा तीर्थकर की आत्मा विशुद्ध से विशुद्धतर होती जाती है। प्रभु आत्मा को धर्मध्यान से भावित करते है, तथा शक्तिशाली क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होते हैं और मोहनीय कर्म को दसवे गुणस्थान के अन्त में नष्ट करते है। मोहनीय कर्म नष्ट हो जाने से आत्मा की शक्ति अत्यन्त प्रवल हो जाती है, जिससे प्रभु वज्र से कठिन ज्ञानावरण दर्शनावरण एवं अन्तराय ये चार घाति कर्म नष्ट कर अनन्त ज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य की प्राप्ति करते हैं। इसी अवस्था को अरहन्त अवस्था, तेरहवां गुणस्थान, संयोग केवली, जीवन मुक्त, परमात्मा, तीर्थकर अवस्था आदि कहा है। प्रभु तीर्थकर अवस्था प्राप्त होते ही भूमि से 5 हजार धनुष (20,000 हस्त) प्रमाण ऊपर चले जाते हैं। इन्द्रादि चतुर्णिकाय देव ज्ञान कल्याणक मनाने के लिये भगवान के समीप आते है।इन्द्र कुवेर को आदेश देकर एक अत्यन्त मनोज्ञ एवं मनोहर रत्नमय धर्मसभा की रचना करवाता है, जिसे परमागम में समवसरण की संज्ञा दी गई है। समवसरण के वीच में एक गंधकुटि होती है। उस गंधकुटि मे रत्न जटित सिंहासन होता है। इसके ऊपर कमल वना रहता है। कमल को विना स्पर्श किये 4 अगुंल अधर (ऊपर) भगवान विराजते है।

समवसरण संसार का एक उत्कृष्ट वैभव है, तो भी वीतराग प्रभु उस धर्मसभा को स्पर्श तक नहीं करते है। यह वीतरागता का वाह्य स्थूल दृष्टान्त है। अन्तरंग वीतरागता का तो कहना ही क्या है। तीर्थकर के उत्कृष्ट पुण्य के प्रभाव से उस समवसरण में ये करिश्में होते है कि धर्मसभा में प्रवेश के वाद रोगी निरोगी हो जाता है, क्षुधा तृषा, निद्रा काम वासनादि जागृत नहीं होती है और चित्त मे शान्ति सुख की एक अपूर्व धारा वहती है। प्रभु के प्रभामण्डल के प्रभाव से धर्म सभा मे दिन रात का भेद न होकर सदैव दिव्य प्रकाश ही रहता है। उपर्युक्त सारे वातावरण में दयामयी जीवन वृत्ति के चमत्कार है, अहिंसा की सामर्थ्य तथा महिमा के ज्ञापक है। भगवान बिना ओष्ट, जिव्हा, कण्ठ हिलाये सम्पूर्ण शरीर से एक साथ ही 18 महाभाषा एवं 700 क्षुद्र (छोटी) भाषाओं से जगत में व्याप्त अज्ञान की निवृत्ति के लिये तथा प्राणी मात्र के कल्याण के लिए धर्मोपदेश देते है। उन परमपिता परमेश्वर की वाणी में इतना प्रभाव रहता है कि जन्म जात बैर-विरोधी गाय-सिंह, सर्प-नेवला, चूहा-बिल्ली अपने बैर-भाव को भूलकर एक साथ बैठ के उपदेश सुनते है। समवसरण के बारह कोठों मे देव देवांगनायें महिलायें, साधु-साध्वियां श्रावक, पशु आदि बैठकर धर्मामृत पान करते है। प्रभु की वाणी पशु के कान मे जा के पशु वाणी के रूप में, मनुष्य के कान मे जा के मनुष्य की भाषा के रूप मे, देवों के कान में जा के देव भाषा रूप में परिणत होती है। इसी कारण से प्रभु की वाणी सर्व भाषामय कही गई है।

भगवान की वाणी जीवो के सताप के दूर करने के लिए चन्द्र सदृश है, भव्य जीव रूपी तप्त पृथ्वी के लिए दयामयी जल से परिपूर्ण जलधर के ममान है, भ्रम तथा अज्ञान (मिथ्यात्व) रूपी अनादि कालीन अन्धकार का नाश करने के लिए अनुपम एव अलौकिक दीपक के समान है। विश्व मे व्याप्त हिमाचार, पापाचार, भ्रष्टाचार पनपती हुई कुरूतियो को नष्ट करने तथा धर्म का प्रचार करने क लिए तीर्थकर प्रभु विभिन्न ग्राम, नगर, प्रदेश, देश, राष्ट्र आदि म परिभ्रमण करते है तथा जीव मात्र को शाश्वत सुख शान्ति का मार्ग दिखाते है। सत्य का जानने के लिए प्रभु अनेकान्त-स्याद्वाद सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है। सुख शान्ति क लिए आचार मे अहिसा, विचार मे अनेकान्त, वाणी मे स्याद्वाद एव समाज मे अपरिग्रह का अवलम्बन लेना प्राणी मात्र को नितान्त आवश्यक है इस प्रकार का दिव्य सन्देश जन-जन को देते हुये प्रभु आयु पर्यन्त विहार करते ह।

करिश्मे का पचम चरण

तीर्थकर प्रभु की आयु का अन्तर्मुहूर्त काल शप रह जाता ह तव अपने जीवन के अन्तिम लक्ष्य विन्दु मोक्ष की प्राप्ति के लिये मगल विहार एव धर्मोपदेश स्थगित करके मम्मेद शिखर पर स्थित हो जाते है। यदि आयु कर्म की अपेक्षा अन्य कर्मों की स्थिति अधिक ह तो अन्य कर्मों को आयु कर्म के ममान करने क लिए तीर्थकर प्रभु अपने आत्म प्रदेशो को पूरे विश्व मे फैला देते हैं। जिसे आगम की भापा मे लोकपूरण समुद्धात कहते है। उमे हम व्यवहारिक भापा मे तीर्थकर का विराट रूप भी कह सकते है जिसमे चराचर सभी समाये हुए होते है। अनन्तर अ, इ उ, ऋ, लृ इन पच ह्रस्व अक्षरो के उच्चारण मे जितना समय लगता है, उतने समय तक प्रभु अयोग केवली अवस्था मे स्थित होके शेप अघातिया कर्मों को नष्ट करके एक समय म भू भाग (मध्यलोक) से सात राजू दूरी पर लोकाग्र भाग मे स्थित मिद्ध शिला पर अनन्तकाल के लिए स्थित हो जाते ह। आगे धर्म द्रव्य का अभाव होने के कारण गमन नही होता है।

पाठकगण ! प्रश्न हा सकता है कि मिद्ध परमात्मा सिद्ध शिला पर अनन्त काल तक क्या करते रहत है ?

ममाधान भगवान मुक्त होने क वाद कृतकृत्य हो जाते है। उन्हे कोई काम करना शेप नही रहता है। सर्वज्ञ हाने से ससार का चिरकालस चलन वाले नाटक उनके ज्ञान म गोचर हाता है। उनके सामने ही जीव विभाव आश्रय लेकर चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करता हुआ अनन्त प्रकार से अभिनय करता है। विश्व के रग-मच पर चलने वाले प्रत्येक द्रव्य के अनेक प्रकार महानाटक की वे प्रभु वीतराग निर्विकार भाव से प्रेक्षणा करते हुये अपनी महज शुद्ध, स्वभाव, आत्मोत्थ अतिन्द्रियज अनुपम अनन्त सुख आत्मानुभूति का रसपान अनन्त काल तक करते रहते है। कहा भी है कि ' सकल ज्ञेय ज्ञायक तदापि निजानन्द रस लीन ' इसी अवस्था का नाम जैन धर्म मे मोक्षावस्था, निर्वाणावस्था सिद्धावस्था है ॥

तीर्थकर के मोक्षगमन पश्चात् इन्द्रादि देवगण का सम्मेद शिखर पर आगमन होता है। देवतागण प्रभु की देह पर चन्दन, अगर, कपूर, केशरादि सुगन्धित पदार्थ अर्पण करते हे तथा शरीर को अभूतपूर्व सुगन्ध से व्याप्त करके अग्नि कुमार दव देह का अन्तिम (अग्नि) सस्कार करते हैं आर दवता व मानव वड़ हर्ष एव आनन्द से ओत प्रोत होकर निर्वाण महोत्सव मनाते है।

जैन धर्म और उसका तात्विक स्वरूप

☐ डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

अहिंसा-धर्म का व्यापक विनियोग ही भगवान महावीर का जीवन-दर्शन है। दर्शन के साथ जीवन का अनन्य सम्बन्ध है। वस्तुतः, जीवन का ही पर्याय दर्शन है। दर्शन के विना जीवन या जीवन के विकास का ज्ञान सम्भव नही। जीवन के समन्वयात्मक पक्ष की ओर संकेत्त करना ही जैन दर्शन की मौलिक विशेपता है। अथवा, समन्वय उसी जीवन में आ सकता है, जो आत्मशुद्ध हो। फलतः जीवन में आत्मशुद्धि के लिए जैन धर्म की साधना नितान्त आवश्यक है। वर्तमान आध्यात्मिक ह्रास के युग में जन-जन के जीवन में आत्मशुद्धि और समन्वय की स्थापना के लिए "धर्म" तथा "दर्शन' के स्वरूप को हृदयंगम करना प्रासंगिक होगा।

जैनों के प्रसिद्ध आचार ग्रन्थ "मूलाचार' में लिखा है कि "जिन वही कहलाता है, जो क्रोध, मोह, माया और लोभ इन कपायों या आत्मा के आन्तरिक कलुप-परिणामों को जीत लेता है।" "जिन" शब्द की व्युत्पत्ति है - "जयति इति जिनः।" प्रसिद्ध जैन धर्मग्रन्थ भगवती आराधना के अनुसार आत्मिक शुद्धभाव ही धर्म है, जो जीव को परतन्त्र वनानेवाले कार्यो का निराकरण करता है या उन पर विजय प्राप्त करता है, इसलिए धर्म "जिन" का ही प्रतिरूप है और जिन को ही तीर्थकर कहा जाता है। इस प्रकार "जिन" ही धर्म है और धर्म ही जिन है। दोनों में अभेद भाव सम्बन्ध है।

"नियमसार" ग्रन्थ में कहा गया है कि जन्म-जन्मान्तरों के घोर जंगल मे भटकाने वाले मोह, राग, द्वेष आदि कारणभूत मनोविकारों को जो जीत लेता है, वही "जिन" है। "पंचास्तिकाय" में "जिन" के सम्बन्ध मे इस कथन के ही उपसंहार रूप मे कहा गया है कि अनेक प्रकार के मनोभावों के गहन विपय-संकटों मे घसीट ले जाने वाले कर्म-शत्रुओं को जो जीतता है वही "जिन" है।

इन सारी व्याख्याओं का सार यही है कि जितेन्द्रिय पुरुष ही "जिन' संज्ञा का अधिकारी है और जिन धर्म ही "जैन धर्म" है। धर्म केवल बाहरी पूजा पाठ ही नहीं है, वरन् आत्मिक शुद्धभाव ही वास्तविक धर्म है। आचार्य कुन्दकुन्द ने "अष्टपाहुड" ग्रन्थ में भावविशुद्धि को ही सर्वोपरि मूल्य दिया है। मूल गाथा इस प्रकार है :

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स॥

अर्थात्, भावशुद्धि के लिए वाह्य परिग्रह का त्याग करना चाहिए, किन्तु वाह्य परिग्रह का त्याग भी विफल हो जाता है, यदि अन्तर्ग्रन्थि बनी रहती है इसलिए वाह्याडम्बर के त्याग से अधिक महत्त्व मन की गाँठ के परित्याग का है।

'रत्नकरण्ड श्रावकाचार" ग्रन्थ मे धर्म की परिभाषा मे बताया गया है कि जो प्राणियो के अशुभ कर्मों का विनाश करता है और ससार दु ख से उद्धार कर उत्तम सुख या वीतराग सुख धारण करने की क्षमता प्रदान करता है, वह धर्म है "सर्वार्थसिद्धि' मे धर्म के विवेचन मे कहा गया है कि इष्टस्थाने धत्ते इति धर्म' अर्थात् जो इष्टस्थान, यानी मोक्ष मे प्रतिष्ठापित करता है, उसे धर्म कहते हैं। 'परमात्मप्रकाश" ग्रन्थ निजी शुद्धभाव को धर्म मानता है इसके अनुसार धर्म वह हे जो सासारिक जीवो को चतुर्गति (नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगति) के दु खो से त्राण देता ह। इस ग्रन्थ के रचयिता जोइदु की मूल अपभ्रश-गाथा इस प्रकार है

भाउ विसुद्धउ अप्पणउ धम्मु मणेविणु लेहु।
चउगइ दुक्ख ह जो धरइ जीउ पडतउ एहु॥

'प्रवचनसार ग्रन्थ मे आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि मिथ्यात्व और राग द्वेप आदि मे नित्य ससरण कराने वाले भाव-मसार मे प्राणिया को उठाकर निर्विकार शुद्ध चेतन्य मे जो प्रतिष्ठित कर दे, वह धर्म हे। द्रव्यसग्रह ग्रन्थ कहता है कि ससार म पड़ने वाली आत्मा का जो निश्चय पूर्वक धारण या रक्षण करता है वह धर्म हे। धर्म विशुद्ध ज्ञानदर्शन से युक्त शुद्धात्मा की भावना ह। वह व्यवहार रूप मे दस प्रकार का है—उत्तम क्षमा, मार्दव आर्जव सत्य शौच, सयम तप त्याग आकिचन्य आर ब्रह्मचर्य।

'पचाध्यायी मे उल्लेख है कि जो शुद्धात्मा पुरुषो को ससार के नीच पद मे ऊपर उठाकर मोक्ष या उच्च पद प्रदान करता है, वह धर्म हे। धर्म की इन सारी व्याख्याओं का निष्कर्ष यही हे कि धर्म मनुष्य की निम्नगामिनी वृत्ति को ऊर्ध्वगामिनी बनाता है, यानी प्राणिमात्र की नीच भावना को उच्च भावना मे परिणित करता हे।

आचार्य अकलकदेव न राजवार्तिक ग्रन्थ म अहिसा के परिप्रेक्ष्य मे धर्म की परिभाषा करते हुए कहा हे कि अहिमादिलक्षणो धर्म। अर्थात् धर्म अहिसालक्षण से युक्त है। उमास्वामी के प्रमिद्ध ग्रन्थ तत्वार्थसूत्र की टीका तत्वार्थवृत्ति एवम् सर्वार्थसिद्धि मे लिखा ह कि अहिसालक्षण धर्म का आधार मत्य है विनय उसका प्रधान गुण हे, नियति यानि कार्य-व्यवस्था उसका स्वरूप हे आर अपरिग्रह—भावना उमका अवलम्बन ह

आचार्य शुभचन्द्र ने कार्तिकयानुप्रेक्षा मे कहा हे 'जीवाण रक्खण धम्मो। जीवो की रक्षा ही धर्म ह। आचार्य सघदास गणी ने वासुदेवहिण्डी, यानी प्राकृत की वृहत्कथा मे कहा हे

परस्स अदुक्खकरण धम्मो।' पर दु ख का निराकरण ही धर्म ह। आचार्य ममन्तभद्र न रत्नकरण्ड श्रावकाचार' म लिखा है कि मम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन ओर मम्यक् चरित्र मे ही अहिसावुद्धि का उदय होता ह ? जन मत मे इन तीनो को त्रिरत्न कहा गया ह आर यही त्रिरत्न धर्म का तात्विक रूप माना गया हे।

साम्प्रदायिकता के कारण सभी दर्शन एक दूसरे के तत्वों का खण्डन भले ही करते हों, किन्तु समतावादी जैनदर्शन की उत्कृष्टता इस अर्थ में है कि जैनेतर दर्शनों का खण्डन करते हुए भी उनके समन्वयात्मक विन्दुओं का समादर करता है. इसलिए जैन दर्शन में सभी दर्शनों का समाहार है । चूँकि दर्शन में सभी एकान्तिक दार्शनिक दृष्टियों का समन्वय है, इसलिए इसकी "अनेकान्तदर्शन" आख्या भी अन्वर्थ है ।

जेन धर्म—दर्शन की मूलभित्ति अहिंसा है । समतावादी जैनदृष्टि की उद्घोपणा है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई वास्तव में मरना नहीं चाहता । जिजीविपा—शक्ति सव में प्रवल होती है, इसलिए मानव का कर्त्तव्य है कि वह मन से भी किसी के वध की वात न सोचे. इस सन्दर्भ में समणसुत्त में एक गाथा है :

सव्वे जीवा वि इंच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणवहं घोरं निग्गंथा वज्रयंति णं ॥

शरीर से हत्या कर देना तो पाप है ही, किन्तु मन से हिसा—विपयक संकल्प करना भी पाप है. "कार्तिकेयानुप्रेक्षा" मे लिखा है—मन, वचन और काय से किसी जीव को सन्ताप न पहुँचाना ही सच्ची अहिसा है.

आचार विपयक अहिसा का यह उत्कर्प जैन परम्परा की अपनी महार्थ देन है और इस अहिसा के अनुपालन की भावना आज भी भारतीय जनजीवन में परिलक्षित होती है । अहिसा को केन्द्र मानकर सत्य, अचौर्य, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह का आदर्श जैन धर्म ने प्रस्तुत किया । यथाशक्ति जीवन को सरल और स्वावलम्वी वनाने के लिए श्रमण—परम्परा ने इस आदर्श को सर्वाधिक महत्त्व दिया । इसलिए, जैन दृष्टि में असत्य का त्याग, दूसरे के द्वारा अनधिकृत वस्तु का ग्रहण और संयम का परिपालन अहिसा की पूर्ण साधना के लिए आवश्यक माना गया है.

परिग्रह मनुष्य के आत्मविकास में वाधक होता है । मानव समाज में वैपम्य उत्पन्न करने की सवसे वड़ी जवावदेही परिग्रह वुद्धि पर है । परिग्रह का दूसरा नाम ग्रन्थि या मूर्च्छा, मोह या विवेकशून्यता है । यह गाँठ जव तक नहीं खुलती, या मूर्च्छा नहीं टूटती तव तक विकास का द्वार वन्द रहता है। अपरिग्रहवादी महावीर ने ग्रन्थि-भेदन या मूर्च्छा-भंग पर अधिक वल दिया है, इसलिए उनका नाम ही निर्ग्रन्थ (प्रा. निग्गंठ) हो गया. यही अपरिग्रह का मार्ग विश्वशान्ति का प्रशस्त मार्ग है.

पी. एन. सिन्हा कॉलोनी
भिखना पहाड़ी, पटना.

सार्वभौम धर्म के प्रणेता : महावीर

☐ आचार्य तुलसी

जिस धर्म का प्रवचन या प्रणयन भगवान महावीर ने किया, वह था सार्वभौम धर्म। उसमे जातिवाद को कोई स्थान नही। वर्गवाद और वर्णवाद का कोई महत्त्व नही। स्पृश्यास्पृश्य की कोई गध नही। भाषावाद, प्रान्तवाद और राष्ट्रवाद का कोई स्वर नही। इसलिए उसकी सार्वभोमता असदिग्ध है।

महावीर के धर्म सघ मे सम्राट श्रेणिक, महाराज कौणिक और विशाल गणराज्य के नता चेटक का जैसा म्थान था, पूणिया श्रावक आदि का उससे कम नही था। आभिजात्य कुलोत्पन्न श्रमणो का जो स्थान था, वही हरिकेशवल, मेतार्य आदि अन्त्यज कुला मे उत्पन्न मुनियो का था। गोतम, सुधर्मा आदि गणधरो का जो मूल्य था, चन्दनबाला आदि साध्वियो का भी वही मूल्य था।

महावीर ज्ञात, नाथ या नाग क्षत्रिय कुल मे पेदा हुए थे। उनके प्रधान शिष्य इन्द्रभूति आदि ब्राह्मण थे। उनके प्रमुख श्रावक आनन्द, शकडाल पुत्र, कुण्डकोलिक आदि कोलम्बी, प्रजापत और किसान थे। उन्होने धर्माचरण का अधिकार मनुष्य मात्र को ही नही, प्राणी मात्र को दिया। एकेन्द्रिय जीवो से लेकर पचेन्द्रिय जीवो तक पशु पक्षी से लेकर मनुष्य तक, मिथ्यादृष्टि से लेकर सम्यग्दृष्टि ओर वीतराग तक समान रूप से धार्मिकता का अधिकार दिया। यह उनके धर्म की सार्वभौमिकता है। इसे पढ़ने, सुनने और देखने से हृदय आनन्द से भर जाता है। गद्‌गद हो जाता है।

एक ओर आज के जैन सम्प्रदायो की स्थिति हमारे सामने है। उसका उक्त स्वरूप के साथ मेल नही कर पाते। जातिभेद, वर्णभेद छुआछूत स्त्री पुरुष के बीच अन्तर आदि सभी बाते किस जैन धर्म की देन ह। महावीर के धर्म मे क्रियाकाण्डो की भरमार नही है, उपासना की उलझन नही है। उनका धर्म श्रद्धा ज्ञान ओर चरित्र प्रधान है। आज यह धर्म गोण बन रहा है और उसे प्रतिष्ठा नही मिल रही है। उपासना प्रधान हो रही है, आचरण गौण हो गया है। स्त्री जाति की इतनी अवमानना और परिग्रह को इतनी प्रधानता, य सब परिवर्तन कैसे हुए ? कब हुए ? शोध का विषय है।

हमे तो लगता है कि एक बार महावीर स्वय आ कर देखे तो शायद वे आज के जैन धर्म को पहचान न पाए। वे सोचेगे मैंने जिस धर्म का निरूपण किया, क्या यह वही हे ? महावीर का पुन ससार मे आने का प्रश्न ही नहीं है। सोचना हमे हे कि हमारा क्या दायित्व है ? उस जीवत, जागृत और सार्वभौम धम को पुन उस रूप मे प्रतिष्ठित कब कर पायेगे ?

14 मार्च 1993

सरदारशहर।

☐

मैं अनन्त की दीप शिखा हूँ

□ मिश्रीलाल जैन (एडवोकेट)

मैं अनन्त की दीप शिखा हूँ
मेरा क्या जलना, क्या बुझना ?
सिद्ध नाम मरघट संग मेरे,
आगे मार्ग लिया है अपना
मैं अनादि की दिव्य ऋचा हूँ
कर्म लिपि में लिखी कथा हूँ
ऋषि-मुनियों ने चादर ओढ़ी,
ओढ़ी और उसे फिर छोड़ी
तट की सीप सिन्धु में डूबी
बहुत कठिन है उसका मिलना
मैं अनन्त की दीप शिखा हूँ
मेरा क्या जलना, क्या बुझना
पर्यायो ने भ्रम फैलाया,
क्षीर-नीर को एक बताया
प्राची में सूरज मुस्काया,
क्षितिज सेज पर वह पछताया
साँसो का महाकाव्य कठिन है,
बहुत कठिन है उसका पढ़ना
मैं अनन्त की दीप-शिखा हूँ
मेरा क्या जलना, क्या बुझना ?
चारो ओर घना जंगल है
पगडण्डी केवल सम्बल है
आगे चौराहे पर भ्रम है
जग की भीड़ बड़ी निर्मम है
यात्रा में पाथेय देव दो,
दुर्लभ धर्म द्रव्य का मिलना
मैं अनन्त की दीप शिखा हूँ
मेरा क्या जलना, क्या बुझना ?
मैं अरूपी, शाश्वत, अविनाशी
जन्म-जन्म से फिर क्यों प्यासी
जन्म रहा क्यों द्वार खोलता ?
मरण द्वार पर सदा डोलता
जन्म-मरण का चक्र बड़ा है,
बहुत कठिन है उसका बुझना
मैं अनन्त की दीप शिखा हूँ,
मेरा क्या जलना क्या बुझना ?

पृथ्वी राज मार्ग
गुना (म. प्र.)-473001

तीर्थंकर महावीर और उनके क्रान्तिकारी कदम

☐ डॉ महेन्द्र सागर प्रचंडिया

प्राचीन भारतीय संस्कृति म तीर्थंकरी परम्परा अर्वाचीन नही है । आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अतिम तीर्थंकर महावीर तक अन्त्यादय व्यक्ति-उदय वर्गोदय ही नहीं, सर्वोदय की भव्य भावना पायी जाती रही है । यहाँ तीर्थंकर महावीर की सर्वोदय-तीर्थता की मक्षिप्ति प्रस्तुत करना हम अभिप्रेत है ।

अँधविश्वास रूढ़िग्रस्त समाज को महावीर ने जीवन-जागृति और वैज्ञानिक जीवन पद्धति को क्रान्तिकारी प्रकाश दिया । ज्ञान के अभाव मे किया गया कर्म रूढि को जन्म देता हे और रूढ़ि-रति अन्धविश्वास को प्रोन्नत करती है । तीर्थंकर महावीर जीवन का प्रत्येक चरण सावधानी पूवक उठाने का निर्देश देते हे ।

चलने, बोलने, खाने, रखने-उठने तथा शुद्धि करने तक जितने आवश्यक तथा नैत्यिक कर्म ह उन सबके करते समय कर्त्ता मे मूर्च्छा मुक्ति तथा जागृति की परमावश्यकता है । आसावधानी मे किया गया कोई क्रिया कर्म नाहक निरीह जीवो की विराधना करने मे भागीदारी है । महावीर इसी चोकसी को समिति पूर्वक सक्रियता कहते ह ।

महावीर पारस्परिक द्वन्द और द्वेप से बचने के लिए जिस उपाय का प्रवर्तन करते है उसे अनेकान्त कहते है । किसी के कथन को समझने के लिए उसक अपेक्षित दृष्टिकोण को ममझना अत्यावश्यक हे । अपेक्षा को समझे विना किसी कथन के अभिप्राय को समझने का यत्न करना द्वन्द को आमत्रित करना है । एक ही कथन को सात प्रकार से कहने की पद्धति अनेकान्तिक स्याद्वाद की शेली ह । इसके प्रयोग से वार्ताविरोध से सहज मे बचा जा सकता है। अनेकान्त और स्याद्वाद-शेली की प्राशगिकता आज भी चिरजीवी हे ।

सग्रह की मनोवृत्ति का मूलाधार लोभ है । घर उसकी कर्म शाला है । यदि सोने और चाँदी जसे उत्तुग पर्वत भी मिल जाय तो भी लोभी मनुष्य को उससे सतोप नही होता । मनुष्य की इच्छाएँ असीम आकाश की नाई अनन्त हे । मूर्च्छा-ममता के भाव परिग्रही प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं । महावीर इस घातक प्रवृत्ति से मुँह मोड़ लेने की बात करते है । जब अन्त जागरण होता है तब ममता का जन्म होता है और परिग्रही प्रवृत्ति स्वत ही निस्तेज होने लगती है । इसे महावीर अपरिग्रह कहत ह । समभावी सदा अपरिग्रही होता है ।

मनुष्य सुख भोग की आकाँक्षा के कारण हिसा करता ह । हिसा से मनुष्य अशुभ से बँधता है, फलस्वरूप उसे दु ख होता ह । दु ख मुक्ति का मार्ग है—सयम तज्जन्य अहिसा । अहिसा को समझन के लिए हम इस सत्य को बड़ी सावधानी से समझना आवश्यक है । ससार

के सभी प्राणियों को अपना जीवन प्यारा है। सुख सभी को अच्छा लगता है और दुःख बुरा। वध सबको अप्रिय है जबकि जीवन प्रिय। सब प्राणी जीना चाहते हैं। कुछ भी हो, सबको जीवन प्रिय है अतएव किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

महावीर एक ओर जहाँ धार्मिक क्रान्ति पैदा करते है वहाँ दूसरी ओर वे सामाजिक क्रान्ति भी उत्पन्न करते है। धर्म आत्लिक गुणों का पर्याय होता है। स्वार्थी लोग धर्म को जाति के साथ जोड़ देते हैं इसका परिणाम यह होता है कि धर्म समाज के एक वर्ग विशेष की बपौती बन जाता है। पापपूर्ण अनैतिक कार्य करने पर भी वह सदा पवित्र बना रहता है तथा वह सामाजिक गुरू की गरिमा से गौरवान्वित भी होता है। सरल स्वभावी तथा सेवाभाव शूद्र, धर्म धारण करना तो दूर धर्म-श्रवण करने का पात्र भी नहीं माना जाता। इतनी ही नहीं उसके स्पर्श मात्र से धर्मभ्रष्ट होने का मिथ्या दम्भ भी करते हैं। महावीर धर्म-साधना का सबके लिए द्वार खोलते हैं। वे सामाजिक अवधारणा में क्रान्ति उत्पन्न करते हैं कि प्राणी जन्म से नही अपने कर्म से मलीन और कुलीन बना करता है।

महावीर का सामाजिक क्रान्ति का शंखनाद अतीत से बंधनों में जकड़ी मातृ जाति को मुक्ति दिलाता है। दास प्रथा मानवी जीवन का कलंक है। उसका महावीर उन्मूलन हेतु क्रान्ति स्वर मुखर करते हैं। वे पद-दलित और प्रताड़ित दासियों के हाथ का आहार लेकर उन्हे सामाजिक प्रतिष्ठा देते हैं।

जन साधारण में वे धर्म प्रचार हेतु लोकभाषा का व्यवहार करते है, पराश्रित, उपेक्षित तथा अधिकारहीन नर-नारियों में आत्मविश्वास पैदा करते है ,उनमें श्रम के संस्कार उत्पन्न करते है। श्रम सदा स्वावलम्बी होता है। उनके जीवन से अनेक अंध विश्वासो का अन्त होता है और वे अपनी सम्यक् श्रम-साधना के बलबूते पर उत्तरोत्तर विकास करते है। आत्म जागरण से परमात्मा के स्वरूप को सहज में जाँचा और परखा जा सकता है और स्वयं परमात्मा हुआ जा सकता है। महावीर की इस क्रान्ति का परिणाम यह हुआ कि लोक में यह व्याप्त हो गया कि प्रत्येक आत्मा अपना अभ्युदय स्वयं अपने सत्कर्मो से कर सकता है, प्रत्येक आत्मा मे परमात्मा बनने की शक्ति ओर सामर्थ्य विद्यमान है।

मंगल कलश
394, सर्वोदय नगर,
आगरा रोड़, अलीगढ़

महावीर का दर्शन

☐ डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'
[हिन्दी विभाग दयालबाग विश्वविद्यालय, आगरा (उ प्र)]

उपास्य महावीर का
जीवन-दर्शन
कर्मवाद, आत्मवाद और क्रियावाद का
महाभाष्य है —
आत्मा
अनादिकाल से
कर रही — भव भ्रमण
जब, वह होती अग्रसर
त्याग, तपस्या तथा ध्यान
संयम, क्षमादि के प्रशस्त पथ पर,
तब उसका यात्रा पथ
आत्मा से परमात्मा की ओर मुड़ता है,
जीवन में —
सुख-दुःख, कष्ट-आनंद
सर्ग-उपसर्ग उत्थान पतन
जो भी आते
आकस्मिक नहीं होते
पृष्ठभूमि में उनके
होती एक परम्परा दीर्घ
स्वयंकृत-कर्मों की क्यूँ न हो
शुभ किंवा अशुभ कर्मशृंखला
निश्चय ही भोगती आत्मा प्रतिपल,
अतीत के पुरुषार्थ का फल है — वर्तमान
सुन्दर-सुखद भविष्य निर्माण के लिए
करना होगा — पुरुषार्थ
अर्थात्
बोधपूर्वक सम्यक् प्रयास
सम्यक् प्रयास ही बनाता है —
पुरुष को महापुरुष
महावीर थे श्रमण श्रेष्ठ
उनके जीवन-आचार में अहिंसा
विचार में अनेकान्त
वाणी में स्याद्वाद
समाज में अपरिग्रह
चार स्तम्भ हैं
महावीर सोच के समग्र के
इनसे आज भी
विषपायी वातावरण में
मानवता का कल्याण सम्भव है।

मंगल कलश
394 सर्वोदय नगर, आगरा रोड
अलीगढ़—202 001 (उ प्र)

☐

जीवन की सात्विकता और विश्वशान्ति

□ प्रवीण चन्द्र छावड़ा

संस्कृति मूल्य की दृष्टि से अधिक मूल्य निष्ठा के लिए होती है। इसका मूल-आधार आध्यात्मिक होता है, इसी से संस्कृति जीवन को उन्नत व सार्थक करने की सतत प्रक्रिया है। जैन संस्कृति आचार में मर्यादा तथा चिन्तन में उदारता की शाश्वत परम्परा है, जिसमें प्राणी मात्र के प्रति एकत्व का बोध है। अहिंसा, जैन-शासन का प्राण है। अपने स्वभाव मे अपना उपयोग स्थिर करना ही अहिंसा है। जैन शासन प्राणी मात्र को स्वाधीन होने की प्रेरणा देता है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। हर जीव का अपना अस्तित्व है और उसे अपना जीवन जीने का अधिकार है। हर जीव निज में "मै" है, जो जीवन है। हर "मै" जीना चाहता है। जहाँ जीवन को आघात होता है, वहाँ स्वयम् "मै" स्वयम् को आघात पहुँचाता है। क्योंकि, जीवन अविभाज्य सत्ता है।

जैन दृष्टि मे अहिंसा निषेधात्मक नहीं है, प्राण सत्ता के अस्तित्व की संवेदना है, अनुभूति है। अहिंसा आत्मा का वात्सल्य भाव है। इसी से अहिंसा व्रत है, जिसे साधना होता है। अहिंसा विकास की प्रक्रिया में विनय, शील, संयम और अनुशासन की चरम सीमा है। अहिंसक सब जीवो को आत्म समान मानता है। उसके लिए कोई जीव छोटा नहीं होता। उसकी यह अनुभूति अन्तस्तल की गहराई मे होती है। हिंसा के लिये निमित्त की आवश्यकता होती है, जो कारण लिये होती है। उसका अन्य के प्रति नकार है, जो मूर्च्छा-जन्य विकार है। हिंसा स्व-केन्द्रित स्वार्थ-वृत्ति है, जघन्य क्रिया है। हिंसा की सीमा है, जो प्रतिपक्ष मे निर्धारित करना है। हिंसा जहाँ निरुत्तर रह जाती है, वहाँ स्वयम् पीड़ित हो जाती है। उसका हर प्रहार अकुलाहट भरा होता है। जैनाचार में अहिंसा जीवन शैली है, जो आहार-विहार-निहार मे व्यक्त होती है। जीने की हर चर्या अहिंसक विधा मे होती है। मांस-भक्षण के प्रति विद्रोह और शाकाहार का प्रचलन जीवन-सत्ता का सम्मान है। मांसाहार अन्य की सत्ता मे अतिक्रमण है जो सहज अवस्था है। किसी जीव को मिटा देना और मिटा कर उदरस्थ करना अपने साथ द्रोह है, क्रूरता है। जैन चिकित्सा पद्धति मे भी मांस का निषेध है। अपने लिए किसी जीव की हत्या व उपयोग अग्राह्य है। आठवीं सदी मे आचार्य उग्रादित्य ने "कल्याणकारक" वैद्यक-ग्रन्थ मे मद्य-मांस निषेध का वैज्ञानिक विवेचन किया है। आहार के संयम, प्रकृति-स्वास्थ्य तथा जीवन की शुद्धता पर अधिक बल दिया गया है।

सदाचार, आचार की मर्यादा जीवन के प्रति आस्था का अनुष्ठान है, अहिंसा का प्रथम चरण है। [illegible]

निगल जाता है । यह प्रमाद है अन्य के अस्तित्व का घृणित नकार है । वधिक मे लज्जा नहीं होती । मलिन चित्त मे शील व सयम ठहरता नही है । इसी मे वधिक अपने घृणास्पद कार्य को भी गाथा बना कर शौर्य का प्रदर्शन किये रहता है । वह स्वयम् आतकित होता है और अपने भय के आवेगो को दवाने के लिए अहम् की तुष्टि करता है ।

कोई भी शस्त्र प्यार की भाषा नही जानता । वह प्रहार करता है, पीड़ित करता है । मासाहार शव को देखता है, उससे मोद मनाता है । शाकाहार शिव क लिये होता है । शव ओर शिव इन दो विन्दुओं मे हिसा और अहिसा का दर्शन निहित है । जीव के शव के लिये जीव हो जाता है, जीवन से ही नाता टूट जाता है, विचार मे निर्जीव हो जाता है । भारत का यह वभव है कि शाकाहारी होने से वह अपने भूमि-साधनो की सीमा मे अधिक वुद्धिमानी से रह रहा हे । भारत की समृद्धि कृपि व पशु पालन है । शाकाहार असत् मे सत् पशुता से मनुष्यता की विकास यात्रा है । पशु के पास शील, सयम और विनय के लिये विवेक नहीं होता है । उमके लिये उसका शरीर ही प्रधान होता है । मनुष्य शरीर से परे मानसिक चेतना का स्वामी हाता है । वह जानता है कि स्थूल शरीर से आगे सूक्ष्म है, जो तेजोमय है । चित्त की शुद्धि ही तेजस् शरीर का निर्माण करती है । इसी से चेतना के सस्कार प्राण शक्ति का सन्तुलन करते है। आहार शुद्धि भावो के साथ चित्त शुद्धि करती है, सकल्प शक्ति का विकास करती है । शरीर ऐसा यन्त्र है- जो चित्त का निर्माण करता है । आहार म समता शरीर के लिय शोधन प्रक्रिया ह । यह शोधन मनुष्य ही कर सकता है । वही अपने दोपो का निराकरण कर अपने चतना केन्द्रो को निर्मल कर सकता है । आहार ही क्रियमाण शरीर का निर्माण करता है, रमायन वनाता है । रसायन सात्विक होता है तो अध्यात्म की माधना सहज हो जाती है ।

जेनाचार मे आहार की मर्यादा और पवित्रता के लिए देश, काल क्षेत्र और भाव शुद्धि का जीवन विज्ञान हे । चाहे जो मत खाओं चाहे जिस समय, चाहे जिमक साथ मत खाओं का विधान अन्धा आग्रह नही है । यह सयम है, जो शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक विकास क लिय प्रेरणा का विनम्र प्रयास है । सात्विक आहार प्राण, चतना, मन आर इन्द्रिया को ठोर ठिकाने रखता हे । मासाहार तामसिक है, जो प्राणो को उत्तजित करता हे । मासाहार के प्रति आकर्पण व रुचि पशुता का प्रदर्शन है । जिम तरह मासाहार के लिये विज्ञापन किये जा रहे है वह खतरनाक स्थिति हे । उड़ते हुये पछी या चोकड़ी भरते चौपाया पर लगाया हुआ निशाना उनका तो वध करता हे लेकिन स्वयम् अपने आपको भी निशाना वनने का तयार करता है । हिमा कभी ममता के लिये नही होती है । छोटी हिमा ही युद्ध का आमत्रण होती है । हिमा और उमसे होने वाले घात-प्रतिघात मे रम आना विकृत मानसिकता हे । पशु वनना अतीव सुगम हाता है । किन्तु, ऊँचा उठना श्रम और साधना है । अपनी क्षमताओं का पुरूपार्थ मे विकास करना है । मनुष्य क लिए देह मात्र साधन है तथ्य हे । तथ्य वदलते रहते हें, तत्त्व अविनाशी हे । तथ्य आर मत्य मे भारी अन्तर है । इस अन्तर को सझना ही स्व-ज्ञान की दिशा मे पहला प्रयास है । मनुष्य जितना स्व-ज्ञान के लिये हो जाता है उसमे निहित पशु विसर्जित हाने लगता हे । आहार-निद्रा भय, मैथुन की वृत्तियाँ शान्त और शमित होती जाती ह ।

मनुष्य का भोजन जीव नही ह । जीव उमका सहयोगी ह जिम अपनी व्यवस्था मे रहन ओर जीने का अधिकार हे । जीवा-जीवस्य भोजनम्' मत्स्य न्याय का विकृत मूत्र है । यह

पशु-विद्या है, जहाँ शरीर ही प्रधान है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन ही उसकी वृत्ति है, जो मनुष्य में भी है। जिजीविषा व कामैषणा, जीने और अपनी प्रजाति को कायम रखने की चाह समान रूप से है। मनुष्य की विशेषता है कि वह अन्तरात्मा की ऊँचाइयों को छूता है, शुभ-अशुभ को समझता है। वह अपने संस्कारों का निर्माण स्वयम् करता है। मनुष्य में कुछ भी करने से पूर्व समीक्षा करने की चेतना है। यही उसकी मौलिक गरिमा है। वह अपने लक्ष्य को निश्चित करता है, संकल्प करता है।

इसी से 'जीओ और सबके साथ जीओ' आत्मानुशासन है। जैन दृष्टि से यही शील और संयम है। संयम के साथ रहने वाली करूणा ही श्रेयस् तक पहुँचाती है। शाकाहार संयम की भूमिका है, चित्त शुद्धि का उपाय है। 'आहार-शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः' यह सूत्र उपनिषद् का है। आहार शुद्ध होता है, चित्त शुद्ध होता है। संयमी विवश नही होता, वह किसे करना या नही करना चाहिये, का निर्णय विवेक से करता है। आहार का संयम जीवन का सम्मान है। हिंसा पहिले मन में होती है, बाहर तो उसकी अभिव्यक्ति होती है। इसीलिये आहार के लिये भावशुद्धि आवश्यक शर्त है। सृष्टि में सर्वत्र जीवन प्रणालियाँ विद्यमान है, जो एक-दूसरे से गुँथी हुई है। जीवन को विभाजित करने का हर प्रयास प्रकृति मे हस्तक्षेप है। जैन दृष्टि में प्रकृति स्वयम् व्यवस्था है, संतुलन है। प्रकृति के कारूणिक प्रवाह में हस्तक्षेप या बाधा उपद्रव है। हर उपद्रव असन्तुलन पैदा करता है। जीवन की गति को तोड़ता है। मनुष्य का निर्माण ही असत् करता है, इसीसे पशुता प्रभावी है। प्रकृति से मनुष्य दूर होता जा रहा है। आकाश के तले खुली हवा में रहना, जीवों से तादात्म्य स्थापित करना स्थगित हो गया है। जीवन से प्रेम निकल गया है, इससे रस और आनन्द भी निकल गया है। विश्व मे शान्ति की कामना मात्र वासना है। कथनी में युद्ध न चाहते हुए भावों में युद्ध का रोमांच पैदा किये रहता है।

संसार के अधिसंख्य लोगो का आहार-विहार स्वभाव गत नही है। उनके प्राणों मे हिंसा है। शाकाहारी भी अपने भावों व क्रिया में पूर्ण सात्विक नही हो पा रहा है। मांसाहार को वर्जित करते है, लेकिन वर्जना नही। आज मनुष्य भावनाहीन मशीन की भाँति जी रहा है। वह उन प्रसाधनों व औषधियों मे अवकाश नहीं लेता, जो हिंसा पर आधारित है। वह सम्पदा की खोज करता है, पर आनन्द के लिये नही होता। विज्ञान मे प्रेम और आनन्द का कोई रिश्ता नही है। आज विज्ञान का आधार बुद्धि-कौशल है। उसका व्यवहार युद्ध की प्रेरणा है। प्रकृति का दोहन कर अपनी सत्ता का विस्तार ही उसका कर्म है।

जीव से प्रेम करना ही जीवन से प्रेम करना है। हर स्तर पर हिंसा की वर्जना ही प्रेम का विस्तार है, स्वाभाविक व्यवस्था है। असत् की नींव पर खड़े रिश्तों में सत् का प्रवेश ही लोक-मंगल है। हृदय में जहाँ प्रेम होता है, युद्ध नहीं होते हैं। विश्व शान्ति का मार्ग मन की निर्मलता, अन्तश्चेतना का जागरण है। इसका उपाय जीवन की सात्विकता है। आहार की शुद्धि पहली शर्त है और यही अन्तिम शर्त है। 'जीओ और सबके साथ जीओ' का सूत्र ही लोक में उत्तम है, यही मंगल है।

2, न्यू कॉलोनी, मथुरा।

महावीर भगवान आपको सौ-सौ वार नमन है मेरा

☐ अनूपचन्द न्यायतीर्थ

वर्धमान अतिवीर सु सन्मति
त्रिशला की ऑखो के तारे ।
महावीर सिद्धार्थ सुनदन
कुण्डलपुर के राज दुलारे ।।
दो मुझको वरदान प्रभो यह मिट जावे भव भव का फेरा ।।
महावीर ! जव जन्मे थे तुम
फैल रही हिसा की ज्वाला ।
अत्याचार अनाचारो से
जीवन वना जहर का प्याला ।।
हुई शाँति स्थापित जग मे सुन कर के संदेशा तेरा ।।
किंतु आज आतकवाद मे
भयाक्रात है राष्ट्र समूचा
उग्रवाद अपहरणावाद ने
नाम कमाया मव से ऊँचा ।।
कैसे इन से छुटकारा हो छाया चारों ओर अँधेरा ।।
गुण्डागर्दी लुटपाट ओ
मारधाड़ का अजव तमाशा ।
निर्दोपा की हत्याओं से
धूमिल हुई सुरक्षा-आशा ।।
कैसे वचे मान मर्यादा मानव को दानव ने घेरा ।।
धमनाम वदनाम कर रहे
दे दे करके धर्म दुहाई ।
वोटो की इस राजनीति म
कही देश की नही भलाई ।।
सत्ता के लोलुप बन नेता लडते जैसे चोर-लुटेरा ।।
सत्य अहिसा स्याद्वाद आ
अनेकान्त का पाठ पढादो ।
मर्व-जानि समभाव समन्वय
मर्व धम मम्मान मिखादो ।।
एक सूत्र म राष्ट्र रहे यह अन्धकार मिट होय सवेरा ।।
महावीर भगवान आपको सौ सौ वार नमन है मेरा ।।

769 गोदिको का रास्ता
किशनपोल वाजार जयपुर-302 003

मान का मर्दन करो

☐ उपा० मुनि भरतसागर

एक परोपकार रत साधु दुःखियो के दुख दूर करता हुआ और धर्मोपदेश देता हुआ पृथ्वी पर यथेच्छ विचरण किया करता था । एक स्थान पर उसने देखा एक सिपाही घायल होकर मरणासन्न अवस्था में जमीन पर पड़ा है । बाबाजी ने सोचा- मरणासन्न अवस्था में धर्म का एक शब्द भी कान में पहुंच जायेगा तो इसका जीवन सफल हो जायेगा । इसी विचार से महात्मा ने सिपाही से पूछा- तुझे भगवान का नाम सुनाऊं ? कुछ धर्मचर्चा सुनोगे ?

सिपाही प्यास से तड़फ रहा था उसने संक्लेपित होकर कहा- मुझे तुम्हारा भगवान नहीं चाहिये, मुझे अभी पानी चाहिये ।

यद्यपि सिपाही के वचनों में तेजी थी फिर भी सरल हृदय महात्मा ने तत्काल ही उसे पानी पिलाया । पानी पीने के बाद सिपाही ने कहा- मेरे सिर को अब थोडा ऊंचा कर दो । महात्मा ने अपने शरीर से उत्तरीय वस्त्र निकाला और घडी बनाकर उसके सिराने रखा । सिपाही को ऐसा लगा मानो जाते हुए प्राण लौटकर आ गये हैं । उसने कहा अब मैं कुछ स्वस्थ हूं, पर ठंड से मेरे हाथ पैर अकड़ रहे है । जंगल में महात्मा को शीत निवारणार्थ कोई साधन नजर नहीं आया तब उसने अपने शरीर पर की कफनी उतार उसे उढ़ा दी । उसी समय मरणोन्मुख सिपाही के नेत्रो में आंसुओं की बूंदे झलकने लगी । उसने गद्‌गद् स्वर से साधु से कहा- महात्मन् ! मैंने अभी तक धर्म ग्रन्थ नहीं पढ़ा है, परन्तु जिस तरह आज आप मेरे काम आये उसी प्रकार प्राणीमात्र की रक्षा व सेवा करने की बुद्धि उस भगवान के स्मरण या धर्म ग्रन्थ के अध्ययन से मिलती है तो आप मुझे अभी अपने भगवान का नाम सुनाइये, धर्मग्रन्थ सुनाइये । महात्मा ने ऐसा ही किया, सिपाही अत्यन्त प्रसन्न हुआ ।

"विणओ मोक्ख द्वारं" । कहने का तात्पर्य यह है कि केवल धर्माभिमान के बड़े-बड़े नाटक रचने से व्यक्ति धर्मात्मा नहीं कहला सकता है । धर्म के नाम पर बड़े ऊंचे-ऊंचे पदों पर आसीन होने से या फूलों की लम्बी मालाएं पहनने से कोई धर्मात्मा नहीं कहला सकता है । धर्मात्मा बनने के लिये विनय, परोपकार, स्वार्थ त्याग की भारी आवश्यकता है ।

[illegible] सरलता, सच्चा धर्म विनय को उद्भूत करता है । आज धर्मात्मा का विनय, [illegible] के स्वाभिमान का ठिकाना ही नहीं है । जिस स्वाभिमान के [illegible]

समाज के अध्यक्ष कौन है ? जैन साहव । कैसे हैं जैनसाहब ? रात्रि मे भोजन करते हैं, यदि कोई अन्य समाज वाला निमन्त्रण देता है और वह कहे- जैन साहव को दिन मे भोजन कराना है, तब जैन साहव कहते है, 'अजी ! मुझे रात्रि मे भोजन चलता है' । ऐसा कहकर वे अपने आपको गौरवान्वित समझते हैं । जैन समाज के अध्यक्ष हो गये हैं पर उसके आचरण से, अपने कुलाचार से अनभिज्ञ हैं । आज तो बड़ी समस्या है । बड़े-बड़े नामी घरो के बच्चे शराब, अण्डा आदि खाना अपनी शान समझते हैं, उसी मे अपना बड़प्पन, गौरव समझते हैं । कैसे समाज की रक्षा होगी विचार कीजिये । मदिरो के मत्री बन गये, पर कभी मन्दिर मे आकर पूजा अभिषेक तो दूर रहे दर्शन करने की भी फुर्सत नही है । बस विशेष आयोजनो मे आकर मान स अकड़कर चलना, फूलमाला पहनकर जय-जयकार कर लेना, इतना ही शेष रह गया है । अथवा, मदिरो की सम्पत्ति हड़प लेना, ब्याज से अपनी उदर पूर्ति करना । देश के नेता बन गये, सुधारवाद के नाम से देश की, समाज की सस्कृति का ह्रास करने मे ही अपना गौरव समझते है । कवि कहते है—

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरिकर विविध विष देह दाह ।
आतम अनात्म के ज्ञान हीन, जे जे करनी तन करन छीन ॥

ख्याति पूजा-लाभ की भावना से कितना ही देश की, मदिर की, समाज की सेवा करो, तप करो, शरीर को सुखा दो, किन्तु यदि विनय, शील, सदाचार, नम्रवृत्ति का जीवन मे प्रादुर्भाव नही हुआ तो मानव की क्रियाए ससार की वृद्धि ही का कारण है । अत मान को छोड़कर स्वाभिमान के मार्ग पर चलना श्रेयस्कर है ।

आप जानते ही है कि कषाय जीवन की महाशत्रु है । जीवो के जितना भी शुभाशुभ कर्मो का आस्रव होता है उसमे कषाय की मन्दता या तीव्रता ही मूल कारण है । कषाय की तीव्रता मे अशुभ कर्मो का तीव्र आस्रव होता है तथा मन्दता मे शुभ आस्रव होता है । जीवो के आस्रव व बन्ध के क्षेत्र मे कषायों का हस्तक्षेप विशेष बलवान है ।

माँ नही तो सन्तान नही हो सकती, उसी प्रकार आस्रव और बन्ध की जननी कषाय है । यदि कषाय नही हो तो आस्रव नही, बन्ध नही, ससार का ही अभाव हो जायेगा । ससार वृक्ष की रक्षा, सतति की अक्षुण्ण धारा जीवन्त रखने का बड़ा उपाय कषाय है । कषाय के ही आस्रव, बन्ध आदि कपूत हैं । मोक्ष वृक्ष का मूल कषायो से विरति है । जैसे-जैसे कषायो का अभाव या मन्दता बढ़ती है वैसे-वैसे सवर, निर्जरा, मोक्ष रूप सपूतो की उत्पत्ति होती है । आप जैसी सतति चलाना चाहे स्वतत्र हैं चलाये, आपका एकाधिकार है ।

आपने सुना है क्रोध मे शरीर गरम हो जाता है, आखे लाल-लाल हो जाती है । अब मान मे क्या होता है देखिये मान कषाय के उदय मे शरीर अकड़ जाता है छाती फूल जाती है और व्यक्ति सिर ऊचा करके चलता है, हित-अहित, हेय-उपादेय का भान नही रहता है । पर "मानी का सिर नीचा' ऐसी कहावत प्रसिद्ध है । रामचन्द्रजी मर्यादा पुरुषोत्तम का नाम घर-घर मे लिया जाता है क्यो ? राम स्वाभिमानी थे, राम ने सीता जैसी नारी की अग्नि परीक्षा स्वाभिमान एव मर्यादा की रक्षा के लिये ली । राम ने रावण से युद्ध भी सस्कृति एव सभ्यता की रक्षा के लिये ही किया था । यदि राम रावण का विरोध नही करते तो स्त्रियो के शील की रक्षा कभी नही हो सकती थी, आगे यही मार्ग बन जाता । राम को तो अनेक सीताए मिल

सकती थीं, सीता चली भी गई थी तो कोई बात नही थी । पर राम दूरदर्शी थे । उन्होंने स्वाभिमान की रक्षा के लिये युद्ध कर सीता को पाया । किन्तु रावण ने अन्त तक मान नही छोड़ा । प्राण निकल गये किन्तु कषाय नहीं छूटी, आखिर नरक का पात्र बनना पड़ा । यद्यपि रावण जानते थे कि जो कुछ मैंने किया है यह वीरों का काम नहीं है, फिर भी यदि "मैं सीता को वैसे ही लौटा दूंगा तो लोग मुझे क्या कहेंगें ? मेरा अपमान होगा ।" बस इसी मान कषाय ने उसे डुबो दिया ।

जिस समय रावण का मृतक देह जमीन पर पड़ा हुआ था, मन्दोदरी विलख रही थी । राम कह रहे थे, रावण एक महान राजनीतिज्ञ, कुशल वीर थे । हमारा उनसे अब कोई वैर नहीं है । उनके पापों से हमें घृणा थी । तभी मन्दोदरी भी रावण के कुकृत्य की भर्त्सना करते हुए राम की प्रशंसा कर रही थी कि राम के माता, पिता एवं वंशज धन्य हैं कि वह परदारा पर कुदृष्टि नहीं डालता ।

इसी प्रकार कौरव मानी थे, पांडव स्वाभिमानी थे । वालि स्वाभिमानी थे, रावण मानी थे । रावण की मान कषाय के अनेकों प्रसंग प्रथमानुयोग में पाये जाते हैं । रावण का असली नाम दशानन था । एक समय रावण आकाशमार्ग से जा रहा था । चलते-चलते उसका विमान अचानक अटक गया । दशानन ने सोचा- यहां मेरा विमान रोकने वाला शत्रु कौन आया है ? अभी उसे मजा दिखाता हूं । नीचे उतरा । वालि मुनिराज ध्यानस्थ थे । तद्भव मोक्षगामी के ऊपर से कभी विमान नही जा सकता है, यह आगम का नियम है । वालि मुनि को देखते ही रावण को क्रोध और मान दोनों कषायें एकदम उबाल पर आ पहुंची । वालि ने रावण की दुष्टता से परेशान हो दीक्षा ली थी । पूर्व वैर जागृत हो गया । अरे ! यह वही दुष्ट है जिसने गृहस्थावस्था मे भी मुझे कभी सिर नहीं झुकाया और अभी फिर विमान रोक लिया । अभी इसे जान से मार डालूंगा । ऐसी तीव्र कषाय की वेदना युक्त दशानन ने तुरन्त सारा पहाड़ उठाया और मारने को तैयार हुआ । उसी समय वालि मुनि ने जो करुणा के सागर थे, सोचा-मुझे अपनी कोई चिन्ता नहीं है पर बेगुनाह करोड़ों पशु-पक्षियों की अभी हिसा हो जायेगी । उन्हें तप के प्रभाव से ऋद्धि प्राप्त थी । उन्होंने पैर का एक अंगूठा दबाया जिससे रावण पहाड़ के नीचे दब गया और बचाओ-बचाओ करके रोने-चिल्लाने लगा । रावण के रोने की आवाज सुनकर मन्दोदरी विमान से उतर कर नीचे आयी । मुनिराज से दया की भीख माँगी । मुनिराज ने अपना अंगूठा ढीला किया । इस तरह करोड़ों जीवो की रक्षा की । तभी से मानी दशानन का नाम "रावण" पड़ गया ।

> लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर ।
> जो प्रभु होना चाहते, लघुता धरो जरूर ॥

बाप बनकर कोई माल नहीं खा सकता । आज तक सबने बेटा बनकर ही धन खाया है । विनम्रता, सहजता से ही प्रभुता मिलती है । जो जितना लघु रहेगा वह आगे उतना ही पूज्य बनेगा ।

पूज्य आ० श्री शान्तिसागरजी महाराज से किसी ने पूछा, महाराज जी आपका परिचय बताइये । यद्यपि आचार्य श्री इस युग के मुनियों के संरक्षक, प्रभावक, सबसे बड़े साधु थे,

फिर भी उन्होने अपना परिचय दिया- भैय्या ! ढ़ाई द्वीप के तीन कम नौ करोड़ मुनियो मे मेरा नम्बर अन्तिम है, मै सबसे छोटा साधू हूँ । यही मेरा असली परिचय है ।

आज सब पदो के लिये लड़ते ह । कुर्सी के लिए झगड़ते है । अरे ! क्षणभगुर ससार मे शरीर भी नही रहेगा, तो पदो से क्या प्रयोजन ? विचार कीजिये । आचार्य टोक बजाकर कहते है, हे मुने ! ये आचार्य उपाध्याय पद भी उपाधिया है, मान कपाय को पुष्ट नही करना, कर्त्तव्य करते हुए इनसे भी अपने को भिन्न समझना । समाधि के समय इनको भी छोड़ना ही पड़ेगा । पदो म कभी समाधि नही, बिना सम्यक् समाधि के मुक्ति का मार्ग नही ।

आप जानते हैं बड़े-बड़े वृक्षो पर समय आने पर खट्टे-मीठे फल लगते हैं । फल लगते वे झुक जाते हैं, नम्र बन जाते हैं । वे प्राणी मात्र को कहते है, झुकने की कला सीखो । जो जितना दर्शन ज्ञान-चारित्रवान होगा वह उतना ही विनम्र और सुशील बनेगा । सत्य रत्नत्रय मार्दव का विकास करता है और मिथ्यात्रय मान कपाय को पुष्ट करते हैं ।

अर्हन्त भगवान कैवल्य की प्राप्ति होते ही आठ प्रातिहार्यो (मन को हरण करने वाले) से सुशोभित होते है । उनमे एक चवर प्रातिहार्य हैं वह हम क्या शिक्षा देता है ? कुमुदचन्द्राचार्य कल्याणमन्दिर स्तोत्र मे सुन्दर चित्रण करते हैं—

स्वामिन्सुदूरमवनम्य समुत्पततो, मन्ये वदति शुचय सुरचामरौघा ।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुगवाय, ते नूनमूर्ध्वगतय खलुशुद्धभावा ॥

हे प्रभो ! ये सुन्दर चवर जितना अधिक नीचे जाते हैं उतने ही ऊपर जाते है । ये भव्य जीवो को शिक्षा देते है कि जो देव-शास्त्र गुरु मे पूज्य पुरुषो के प्रति जितना झुकेगा, विनम्र रहेगा वह भी उतना ही ऊचा जायेगा अर्थात् उसके परिणाम भी उतने ही शुद्ध, निर्मल बनेगे । पर आज की स्थिति मे हम मदिर जायेग तो भगवान को मानो सेल्यूट मारने जाते है, मस्तक भी झुकता नही है । प्रथम ता पहनावा ही सस्कृति के विरुद्ध है, दूसरी बात झुकने मे शरीर को पीड़ा होती है देव शास्त्र-गुरु के सामने, माता पिता के सामने झुकने से अपनी मान हानि समझते है, छोटेपन का अनुभव करना पड़ता है, शर्म लगती है ।

आचार्यो ने कहा है सबसे पहले उठकर भगवान का नाम लो, नो बार णमोकार मन्त्र पढ़ो, चौबीस भगवान का स्मरण करो, स्नान आदि करके सबसे पहले मदिरजी मे जाकर जिनदेव को नमस्कार करा । पर यह तो आजकल मुश्किल हो गया । देव शास्त्र गुरु ही बदल गये है । सबसे बड़ा देव चाय है । बिस्तर मे बैठे "बैड टी" चाहिये, बिना चाय के दर्शन किये उठने को मन ही नही करता । स्नानादि कुछ नही, मुख शुद्धि भी नही करेगे । सबस पहले चाय देवता के दर्शन, फिर प्याली मे डालकर उसको सिर झुकायेगे ओर गटागट उतार जायेगे । बताइये, बिना सिर झुकाये कोई चाय पीता है ? अरे भैय्या ! समझो, कितना समझाए ? शास्त्र हमारे अखबार हो गये हे, बिना देखे चाय का घूट भी नही उतरता । परन्तु पढ़ते ही शान्ति नही अशान्ति का साम्राज्य छा जाता है । कितने मरे कितने घायल, देश की स्थिति क्या है, आदि आदि समाचारो से मन विकल हो जाता है । गुरु हमारे आज डाक्टर बन गये । गुरु कितना भी कहे—शुद्ध खान पान करो, सयम से रहो । बुरा लगता है, पर डाक्टर कह दे मूग की दाल का पानी, उबला हुआ पानी बस इससे अधिक नही । गुरु की मान सकते नही, पर डाक्टर की बात टाल सकते नही । बड़ी समस्या है । पुन कवि कहते है—

"बड़ा बड़ाई ना करे बड़ा ना बोले बोल
हीरा मुख से ना कहे लाख हमारो मोल"

अपनी प्रशंसा और पर की निन्दा नीच गोत्र कर्म के आस्रव कह गये है । "परात्मनिन्दा प्रशंसे सदसद् गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य" । सज्जन पुरुष हमेशा पर के गुणों का पारखी होकर अपने आपको वहुत छोटा, तुच्छ समझता है । ज्ञान का विकास कव तक होता है ? जव तक व्यक्ति यह सोचता है कि "मुझे कुछ नहीं आता है, मैं अल्पज्ञ हूं ।" समझ लीजिये उसकी उन्नति के क्षण अभी मौजूद है । परन्तु जिस समय मन मे यह भावना आ जाय कि अरे ! मेरे ज्ञान के सामने सव तुच्छ हैं, वो दूसरा व्यक्ति क्या जानता है, मूर्ख है, आदि भावनाएं आंते ही समझ लीजिए उसके विकास का द्वार वन्द हो चुका है ।

वड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर
पंथी को छाया नही, फल लागे अति दूर ।

मान किसी का नहीं रहा । चक्रवर्ती भरत भी जिस समय छः खंड को जीतकर आ गये और वृषभाचल पर्वत पर अपना नाम लिखने गये, उनके अन्दर चक्रवर्ती पद का अहं था । पर वहां जाकर देखा उनके नाम लिखने की भी वहां जगह नही थी । अरे चक्रवर्ती ! किस राज्य का अहं करते हो ? तुम्हारे जैसे अनेकों चक्रवर्ती यहां हो चुके । चक्रवर्ती का मद गल जाता है । तभी किसी दूसरे का नाम मिटाकर अपना लिखकर चले आते है ।

कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र, उमास्वामी, विद्यानंद जैसे महा-महाचार्यो ने वड़े-वड़े ग्रंथों की रचना की । पर कितना लाघव उनकी वाणी में पाया जाता हे- मैंने "जिणुद्दिट्ठं", जैसा जिनेन्द्र देव ने कहा है वह लिखा है, मेरा अपना कुछ नहीं है । एक शव्द भी आगम विरुद्ध लिखने पर मार्ग के लोप होने का उन्हें भय था, वे सदा आगम परम्परा का ध्यान रखते थे । कुन्दकुन्द स्वामी ने तो छद्मस्थ होने के नाते यहॉ तक कह दिया, "चुकेज्ज छलं न घेतव्वं ।"

अन्त में यह ही कहना है कि जीवन में जितने अनर्थ होते हैं उनके पीछे मान कपाय की वलिहारी है । मानव में इसी की तीव्रता है और इस तीव्रता का फल नरक तथा तिर्यन्च आयु है । अतः जीवन में हम गुरुजनों के आगे झुकना सीखें । मान किसी का नहीं रहा है—

इक लख पूत, सवा लख नाती, ता रावण घर दिया न वाती ।

हे भव्यात्मन् ! किस घर, मकान, परिवार, सम्पत्ति पर गर्व करता है ? जिस रावण के एक लाख पुत्र, सवा लाख नाती थे, उसकी ही लंका जल कर राख हो गई ।

पाप समय निर्वल वनो, धर्म समय वलवान ।
वैभव समय विनम्र अति, दुःख में धीर महान ॥

क्रोध का शमन कीजिये

☐ आ स्याद्वादमती

एक राजा का अधिपत्य विश्व के कोने-कोने मे जमा है । वालक युवा, वृद्ध योगी भी जिसके शासन मे शासित हैं । आप जानते हैं कौन सा राजा है ? उत्तर मिल रहा है वर्तमान मे राजाओं का राज्य नही है । यहा तो प्रजातन्त्र है । हर व्यक्ति अपने मन का राजा है ।

वन्धुओं ! आपका कहना ठीक है । वाहरी व्यक्ति वाहर ही दौड़ लगा सकता है । सवको जीतकर एक पुत्र (राजा) अपनी माँ के पास आया । माँ, मैं- सारे विश्व पर विजय प्राप्त करके आ गया हूँ । माँ, मुझे लोग सर्वजित् कहते हे । माँ, मुझे आशीर्वाद दीजिये । माँ अनुभवी थी । अत माँ के मुख से पवित्र वाणी मुखरित हुई—"दुनिया तुम्हे जो चाहे कहे, तुम्हे मे सर्वजित् नही मानती हूँ । मैं तो कहती हूँ तुमने एक शत्रु पर भी विजय प्राप्त नही की है, मैं तुमको सर्वजित् तो दूर एकजित् भी नही मानती हूँ ।"

पुत्र—आश्चर्य से वोला—माँ ! आप क्या कह रही हो ? मैने युद्ध मे सवको हरा दिया । मुझ जैसे वीर के सामने सव शत्रु दाँतो तले अगुली दवा युद्ध क्षेत्र मे पीठ दिखाकर भाग गये । माँ ! मुझे एक वार सर्वजित् कह दे ।

माँ—वेटा ! अभी तुमने जीता ही क्या है, जो म तुम्हे सर्वजित् कहूँ । यह तो वहुत असम्भव है ।

पुत्र—माँ ! मुझे शत्रु तो वताओ, जिसे जीतकर मैं आपको अपनी वीरता दिखा दूँ ।

माँ—वेटा ! तुमने वाहर के शत्रु जीते है । अभी तुम्हारे अन्दर मे वहुत वड़े-वड़े शत्रु वैठे हैं, उन्हे जीतने पर ही तुम सर्वजित् कहला सकते हो ।

ससार मे "कपाय" रूपी एक वहुत वड़ा राजा है ।, जिसका शासन ससार के समस्त जीवो पर है । हर-प्राणी पर ऐसा शासन वह कर रहा है कि सवके अन्दर मे त्राही त्राही मची है। एक क्षण भी वह किसी को चैन से नही रहने देता है ।

'कृप', विलखने धातु से यह कपाय शव्द वना है । जिसका अर्थ है-जोतना । जिस प्रकार किसान अपने लम्वे-चोड़े खेत को इसलिये जोतता है कि उसमे वोया हुआ वीज अधिक से अधिक प्रमाण मे उत्पन्न हो, उसी तरह कपाय द्रव्यापेक्षया अनादि अनिधन कर्मरूपी क्षेत्र को जिसकी कि सीमा वहुत दूर तक है, इस तरह जोतता है कि शुभाशुभ फल इसमे अधिक से अधिक उत्पन्न हो ।

राजवार्तिक में अकलंक स्वामी ने हिंसार्थक कष् धातु की अपेक्षा कषाय शब्द की निरुक्ति की है । कहा है–सम्यक्तवादि विशुद्धात्मपरिणामान् कर्षात हिनस्ति इति कषायः ।" इस कषाय रूप राजा के चार पुत्र हैं—(1) क्रोध (2) मान (3) माया (4) लोभ ।

अनुकूल या प्रतिकूल दोनों ही परिस्थितियों में कषाय का उद्वेग उठता है । अनुकूल परिस्थिति में मान और लोभ का संचार होता है तथा प्रतिकूल स्थिति में क्रोध और मायाचारी का तूफान उबाले लेता है । एक माँ ने शरारती बालक से उसके हितार्थ सत्य मार्ग बताते हुए कहा—'बेटा ! स्कूल जाओ । अच्छी पढ़ाई करो, ज्यादा खेलना अच्छा नहीं ।' पांच साल का बच्चा खेलना चाहता है । माँ के प्रतिकूल वचन सुनते ही **क्रोध** में रोता है, चिल्लाता है, बर्तन फेंकता है, मारना, पीटना, कलम, किताब, स्लेटादि फेंकना आदि क्रियाएं करता है । बच्चा बड़ा होता है । माँ कहती है– "ज्यादा सिनेमा नहीं देखो, जुआ नहीं खेलो, होटल में जाकर गन्दी चीजें मत खाओ ।" जवानी के जोश में, उसे क्रोध आता है–होश खो देता है, माँ को दुश्मन की तरह देखता है । क्रोध बहुत बड़ा शत्रु है । माँ की प्रतिकूल वाणी सुनकर क्रोध के वश कोई भाग जाता है, कोई मर जाता है, कोई माँ को ही खरी-खोटी सुनाता है । सास-बहू की घर-घर में यही स्थिति है । हर व्यक्ति अपनी कषाय की पुष्टि करता है । सास के अनुकूल यदि बहू नहीं करें तो क्रोध कषाय से सास तमतमाती है, और बहू के अनुकूल सास नहीं करें तो बहूजी क्रोध से अपना झोली-झण्डा लेकर माँ के घर भागने का प्रयास करती है । रहस्य यही है कि घर हो या आफिस, मन्दिर हो या मस्जिद, कुटी हो या महल, क्रोध कषायकी अग्नि चारों ओर फैली हुई है ।

इसी क्रोध के वशीभूत आये दिन पति-पत्नी में झगड़े, तलाक आदि होते रहते हैं । इतना ही नहीं आये दिन आत्महत्याएँ क्रोध कषाय का ही फल है । आजकल का एक नया निमित्त और मिल गया है —"नई दुल्हन" । दहेज में कितना लाई है । अनुकूल दहेज यदि लड़की के घर से नहीं आया है तब देखिये सास-ससुर-दुल्हा आदि सब उसके ऊपर लाल-लाल हो बरस पड़ते है । इतना ही नही उस लड़की, मासूम बालिका, को एक व्यापार बना रहे है । नाना त्योहार रीति-रिवाजों में मन-चाही रकम बाप के घर से लेकर आना, नही तो इस घर में पैर मत रखना । क्रोध में आग जैसे बरसते हुए आज के महाजन पराई लड़की को भी मौत के घाट उतारते लज्जित नहीं होते ।

आचार्य कहते हैं कि अरे ! संसार मे चण्डाल कौन है ? क्रोध चाण्डाल है । जिसने क्रोध को जीता है उसे सौ-सौ बार नमन है । क्रोध कहीं बाहर से नहीं आता है, बाहरी निमित्त क्रोध के कारण नहीं है । अपितु स्वयं की विभाव परिणति क्रोध रूपी अग्नि में आत्मा को भस्मी-भूत करती है । जो क्रोध आने पर निमित्त को दोष देते है और कहते हैं कि उसने ऐसा किया इसलिए मैंने क्रोध किया, वे मूढ़ है । ज्ञानी पर को दोष नहीं देकर, क्रोध पर क्रोध करते है । क्रोध पर क्रोध करने वाले योगी के सामने दुष्ट भी झुक जाते है ।

आचार्यों ने अनेक प्रकार की अग्नियां बताई है—(1) क्रोधाग्नि (2) कामाग्नि (3) उदराग्नि (4) [illegible]

सब अग्नियों के प्रशमन के लिये भिन्न-भिन्न जलों से सिंचन आवश्यक है -क्रोधाग्नि के लिये क्षमा जल, कामाग्नि के लिये- ब्रह्मचर्य जल, उदराग्नि के लिये भोजन जल और

(4) क्रोध आने पर तत्त्वचिन्तन कीजिये—क्रोध स्वभाव है या विभाव है । क्रोध अच्छा है या बुरा ? क्रोध हेय ह ? या उपादेय है तत्त्वज्ञानी क्रोध को तत्त्व ज्ञान के बल से जीत लेता ह, जबकि अज्ञानी उसमे रच पच जाता है ।

एक परिवार था । बेटा और पिता दोनो घर के बाहर दुकान म बैठे थ । अचानक घर मे ग्लास के फूटने की आवाज आई । सास बहू सभी शान्त थ, सन्नाटा रहा । पिता ने कहा—बेटा ! क्या फूट गया है ? बेटे ने कहा, लगता है माँ के हाथ स काच का ग्लास फूट गया है । पिता ने कहा बेटा ! ग्लास अन्दर फूटा है, माँ के हाथ से फूट गया यह कैसे जाना ?

बेटा बोला पिताजी मै सत्य कह रहा हूँ । यदि बहू से ग्लास फूटता तो सास क्रोध अग्नि से बरस पड़ती, घटो चिनगारियाँ धधकती रहती, किन्तु स्वय से गिरा उसे कौन कहे ! पिता अन्दर पहुचे बात सत्य निकली ।

तात्पर्य यह है कि घर मे, आफिस मे, फैक्ट्री आदि मे दूसरो से जरा भी नुकसान हो जाये ता क्रोधाग्नि धधक उठती है, पर स्वय से लाखो का नुकसान हो जाये तो चिन्ता नही । यही पक्षपात दुख का कारण बन जाता हे । आचार्य कहते ह तत्त्वज्ञानी एक क्षण क लिये चिन्तन करता है—यदि यह नुकसान मुझ से हो जाता तो क्या होता ? अत पापी क्रोध करना व्यर्थ है ।

चिन्तन कीजिये, गई वस्तु कभी आने वाली नही है । फिर कषाय करने से क्या प्रयोजन ?

दूसरी बात विचार कीजिये, जड़ के नुकसान होने पर क्रोधादि करने से आपका लाभ ह या हानि ? जड़ की भी काललब्धि इतनी ही थी, ऐसा सोचकर धर्य धारण करे ।

क्रोध आत्मा की विभाव परिणति है । क्रोध मे व्यक्ति अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक रह सकता है, जबकि क्षमा मे अनन्तकाल तक रहता हे । अत चेतन आत्मा के स्वभाव को समझकर ज्ञानी अपने अन्दर मे विभाव से बचने का प्रयत्न करता ह । क्रोध से आत्मा भी दुखी ओर शरीर भी दुखी होता हे । शरीर काला पड़ जाता है, धीरे-धीरे जल जाता है ।

कोई कहे पञ्चमकाल है, क्या करे ? निमित्त मिलत ही क्रोध बढ़ जाता ह । आचार्य कहते है—पञ्चमकाल मे हीनसहनन का हे अत अपने परिणामो को सम्हालने के लिये निमित्तो से बचिये ।

क्रोधी जीव का प्रकृति भी वैसी ही दिखती है । क्षमावान् को सर्वजगत् क्षमा रूप दिखता है । क्रोध मे आँखे लाल हो जाती है, शरीर से मानो अग्नि ही टपकती है—

एक समय की चर्चा है—हनुमान, सीता जी का पता लगाते हुए लका पहुचे । वहा सुन्दर अशोक वाटिक म प्रशान्त मूर्ति सीता प्रभु चिन्तन म मग्न थी । वृक्षो पर सुन्दर सुन्दर श्वेत पुष्प खिल रह थ । एक समय राम सीता और हनुमान आपस मे चर्चा कर रहे थे । चर्चा के दौरान राम न हनुमान से पूछा सीता लका म जिस वाटिका मे थी, उसके फूलो का रग कैसा था ?

हनुमान ने तड़क कर उत्तर दिया—प्रभो ! सच कहता हूँ लाल-लाल फूल थे, मानों अंगारे ही वरस रहे हों ।

सीता ने कहा—प्रभो ! सच कहती हूँ, सफेद-सफेद सुन्दर फूल वाटिका में खिल रहे थे ।

राम ने कहा-एक कहता है सफेद, दूसरा लाल कहता है । आखिर सत्य क्या है ? निर्णय कैसे हो ?

तत्त्वानुभवी राम ने कहा-आप दोनों की वात सही है । देखिये—जिस समय हनुमान लंका पहुँचे थे, उस समय इनके अंग-अंग से क्रोध के अंगारे फूट रहे थे । ऑखों में मानों खून ही वरस रहा था, इसी के कारण इनको सारे फूल भी अंगारे की तरह लाल-लाल दिखते थे । और, सीता तत्त्वज्ञान में मग्न हो प्रभु की भक्ति में मग्न थी । अतः उसे सारा वातावरण शान्त दिखता था, फूल सफेद-सफेद उसे दिखते थे ।

जैसी दृष्टि होती है वैसी सृष्टि होती है । कपायी को सव कपायी दिखते है, क्षमाशील को सव क्षमावान ही दिखते है । चोर को सव चोर नजर आते हैं ।

कोई-कोई कहते हैं—क्रोध तो मुनि व्रति भी करते है । हम भी करें तो क्या आश्चर्य ? अथवा उनसे तो हम अच्छे ? याद रखिये त्यागी व्रतियों से गृहस्थ या असंयमी कभी भी उत्तम नहीं हो सकते है । मुनियों के क्रोध में और संसारी जीवों के क्रोध में वहुत अन्तर है। ससारी मिथ्यादृष्टी जीवों का क्रोध अनन्त संसार का कारण है । आपस में खटपट हो गई तो वदला लेने की भावना वनी रहती है, यहाँ तक कि कहते है मै भव-भव में वदला लिये विना नही रहूंगा । पर मुनि, व्रती, त्यागी का क्रोध नियम से अधिक समय नहीं टिकता, समुद्र मे ज्वार की तरह आता है और चला जाता है । अनन्त संसार का कारण नही वनता है । अतः अपने आप को क्रोधादि कषायों से वचाने का प्रयत्न करे । स्व की रक्षा मे ही लाभ है । पर की ओर एक अंगुली दिखाने पर तीन अंगुलिया तुम्हारी ओर इशारा करती है कि तुम तीन गुना गुनाहगार हो ।

अहिसा जीवन मे उतरे

☐ डॉ नरेन्द्र भानावत

तीर्थकरो, आचार्यों, सत-महात्मा, महापुरुषो ने अहिंसा को परम धर्म बताया है और स्वय अपने जीवन मे उसका आचरण करते हुए, अपने सम्पर्क मे आने वाले लोगो को अहिसा-पालन का उपदेश किया है, पर व्यवहार मे देखा जाता है कि हम अहिंसा की बात तो खूब करते है लेकिन जीवन मे उसे उतार नही पाते है, यह हमारे लिये चिन्ता का विषय है।

यह सही है कि धर्म के प्रति हमारी आस्था और भक्ति है। हम समय-समय पर तीर्थकरो के पच कल्याणक, महापुरुषो की जयन्ति, पुण्यतिथि आदि मनाते है। विशेष अवसरो पर व्रत, पूजा, उपासना आदि भी करते है, दैनन्दिन धार्मिक क्रिया भी करत ह, और अनुष्ठान भी करते है। पर उन मूल मे रही हुई भावनाओं को जीवन व्यवहार मे चरितार्थ कितना कर पाते हैं।

प्रति वर्ष की भाँति इस बार भी महावीर जयन्ति आ गई ह। पर विचारणीय विषय यह है कि हम महावीर का स्तवन, कीर्तन, गुणगान आदि वाचिक और कायिक स्तर पर ही करते रहेगे या उनको अपने मन मे भी प्रतिष्ठित करेगे। महावीर के समय मे हिंसा अपनी चरम सीमा पर थी। धर्म के नाम पर यज्ञो मे पशु वलि, यहा तक कि नर वलि भी दी जाती थी। विचारो मे हठाग्रह था और कई मत-मतान्तर थे। तीर्थकर और प्रति तीर्थंकर के द्वन्द म बौद्धिक जगत जी रहा था। ऐसे समय मे महावीर ने आचार के रूप मे अहिसा आर विचार के रूप मे अनेकान्त तथा जीवन शैली के रूप मे अपरिग्रह का सदेश दिया, मन, वचन ओर कर्म की पवित्रता पर वल दिया और विवेक सम्मत सदाचार तथा तप सयम को धम बताया। "धम्मो मगलमुक्किट्ठम अहिसा सजमो तवो।"

महावीर को हुए आज 2500 वर्षों से अधिक समय हा गया है। विज्ञान के क्षेत्र मे आशातीत प्रगति हुइ है। जगत के पदार्थो को जानने और परखने की विधा मे आश्चर्यजनक सफलताए मिली है। भौतिक दृष्टि से जीवन पहले की अपेक्षा अधिक सुविधापूर्ण वना है पर अपने चारो ओर के परिवेश को जानकर भी व्यक्ति अपने आप को जानने मे पिछड़ गया है। अपने इर्द गिद जा शेप सृष्टि है उसके साथ प्रेम, भाईचारा और सहयोग का भाव जिस अनुपात मे विकसित हाना चाहिये, वह नही हुआ है। कहना चाहिय कि पहले की अपेक्षा अधिक सघर्ष वढ़ा है, तनाव वढ़ा है, भय, सदह आतक और हिमा का वातावरण अधिकाधिक सघन और विस्तृत वना है। धर्म के माथ अर्थ क नाम पर भी शोपण, दमन उत्पीड़न और दगे फसाद म वृद्धि हुई ह। व्यक्ति अधिक क्रूर, स्वार्थी आर मवेदनहीन वना ह। मस्तिष्क क विकास के साथ हृदय का विस्तार नही हुआ है। भातिक सुख साधना की वहुलता आर विविधता होने

पर दिल छोटा और मन मलिन बना है । समय की मांग है कि हम इस विषम और विरोधात्मक स्थिति पर गंभीरता से विचार करें और अहिंसा को, धर्म के हार्द को जीवन में उतारने के लिये सचेष्ट हों ।

इस सृष्टि में मनुष्य को कई दृष्टियों से सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है । इनमे प्रमुख दृष्टि है इसके विवेक और संयम भाव की । यही कारण है कि कई दार्शनिक विचारकों में मनुष्य के कल्याण को सर्वोपरि मानकर अन्य प्राणियों के घात को भी उचित ठहराया है । पर जैन तीर्थकरों ने प्राणीमात्र के प्रति दया, करुणा और प्रेम भावना को परम धर्म कहा है । महावीर ने अपने उपदेश में स्पष्ट कहा है -

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला
अप्पिय वहॉ, पियजीविणो, जीविउकामा
सव्वेसि जीवियं पिया "आचारांग" ।

अर्थात, सभी जीवों को सुख प्रिय है, सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है । वध सभी को अप्रिय लगता है । प्राणी मात्र जीवित रहने की कामना करते है । सबको अपना जीवन प्रिय है ।

किसी भी प्राणी की मन, वचन और काय से हिंसा नही करना अहिंसा है । किसी को मानसिक रूप से कष्ट पहुंचाना, उसे ताड़ना देना, उसे गुलाम बनाना भी हिंसा है । महावीर ने 'प्राण' की व्यापक परिभाषा करते हुए उसे शक्ति, गुण और स्वभाव के रूप में देखा है । मोटे तौर से प्राण दो प्रकार के कहे गये है, द्रव्य प्राण और भाव प्राण । द्रव्य प्राणों में शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि पॉच इन्द्रियां, मन, वचन और कायबल, श्वासोच्छवास और आयु इन दस प्राणों को सम्मिलित किया गया है । भाव प्राणों से तात्पर्य है आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और निराकुलता आदि शाश्वत गुण । द्रव्य प्राणों का विनाश प्रत्यक्ष दिखाई देता है और इन प्राणों के घात में भाव प्राणों अर्थात आत्मा के ज्ञानादि गुणों का विनाश भी राग-द्वेष आदि कषायों के कारण अवश्य होता है । ऐसा भी संभव हो सकता है कि द्रव्य प्राणों का विनाश न हो पर भावों की कलुषता और विचारों की अशुद्धता के कारण भाव प्राणों का विनाश हो ही जाता है । अतः अहिंसा के पालन के लिये भावना की विशुद्धि पर अधिक बल दिया गया है ।

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हिंसा का मूल कारण क्या है ? उत्तर में कहा गया है-जब मन, वचन और काया की प्रवृत्ति राग-द्वेष आदि कषाय भावों के साथ जुड़ती है तब हिंसा जन्म लेती है । भगवान महावीर ने "स्थानांग" सूत्र में हिंसा को दण्ड कहा है और इसके पांच कारण बताये हैं । अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिये प्रयोजनवश हिंसा करना अर्थ दण्ड है, बिना प्रयोजन के कौतूहल आदि के लिये प्राणियों को मारना, क्लेश पहुँचाना, अंग भंग करना अनर्थ दण्ड है । आशंका मात्र से किसी की हिंसा कर देना हिंसा दण्ड है । घात करने के लिये शस्त्र आदि का प्रयोग किसी प्राणी पर किया जाय और उससे किसी अन्य प्राणी का वध हो जाय तो वह अकस्मात दण्ड है । भ्रमवश मित्र को शत्रु और साहूकार को चोर समझ कर दण्ड देना दृष्टि-विपर्यास दण्ड है ।

इन कारणों के अतिरिक्त हिंसा के क्रोध,मान, माया, लोभ, अज्ञान, प्रमाद, अविवेक, [illegible], रस लोलुपता, भोग वृत्ति आदि मुख्य कारण हैं । इनसे बचकर अपने मन वचन

ओर काया की प्रवृत्तियो को क्रोध के वजाय क्षमा के साथ, मान की वजाय विनय के साथ, माया की वजाय सरलना के साथ, लोभ की वजाय सतोप के साथ जोड़ कर अहिसा का पालन किया जा सकता है ।

जीवन-व्यवहार मे अहिसा को चरितार्थ करने के लिये महावीर ने सयम और तप पर विशेप बल दिया है । सयम का अर्थ है अपनी वाह्य प्रवृत्तियो पर नियत्रण करना और सावधानी पूर्वक, विवेक पूर्वक सद् कार्य करना । महावीर ने इस दृष्टि से पाच समितियो के पालन पर वल दिया हे । गमना-गमन, उठते वैठने आदि मे इस प्रकार सावधानी वरतना कि किसी छोटे-वड़े जीव को क्लेश न हो, पीड़ा न पहुँचे ईर्या समिति है । वाणी से कर्कश, कठोर, क्लेश व भय जनक कयन न कर, हित, मित, सत्य और मधुर वचन वोलना भापा समिति है । भोजन, पानी, वस्त्र, पात्र, आदि के ग्रहण ओर उपयोग मे सात्विक और सादी वस्तुओं का प्रयोग करना एपणा समिति है । देनिक आवश्कताओं की वस्तुओं के लेने, रखने, मल मूत्रादि आदि विसर्जन मे सावधानी रखना, अपने परिवेश और पर्यापरण शुद्ध वनाये रखना, आदान -निक्षेपण समिति है ।

समिति क साथ-साथ इन्द्रियो का गोपन, रक्षण करना भी आवश्यक है । इन्द्रिय-निग्रह को गुप्ति कहा गया है । मन, वचन और काया की प्रवृत्ति दुष्ट चिन्तन और अशुभ विचारो मे न जावे इस प्रकार का अनुशासन तप है । आज मानसिक अनुशासन ओर व्रत-सयम का पक्ष क्षीण होता जा रहा है । भोग विलास और इन्द्रियो के विपय सेवन का रस वढ़ता जा रहा है । इसलिये अहिसा को पुष्ट करने वाले सत्य अचौर्य, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतो की पालना कठिन होती जा रही है ।

अत यह आवश्यक है कि हम "सादा जीवन उच्च विचार" को महत्व दे और व्रतो का कठोरता पूर्वक पालन करे ।

अहिंसा के पालन मे वैचारिक उदारता और शुद्ध भाव व चिन्तन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । हमारे स्वार्थ मे जो सहायक हैं उन्ही के प्रति हम मत्री न रखे वरन् प्राणी मात्र के प्रति हमारा मैत्री भाव हो, जो हमारी प्रशसा करे उन्ही मे हम गुणो को न देखे वल्कि जिन जिन व्यक्तियो मे गुणवत्ता है, उसे महत्त्व दे, सम्मान दे ओर उन्ही के प्रति हम सवेदनशील न वने वल्कि जगत् मे जितने भी दुखी प्राणी हें, उन सवके दुख को दूर करने मे हम करूणाशील वने । अपने ही मत या सिद्धान्त को हम सर्वश्रेष्ठ न मान वल्कि ओर जितने भी मत, सिद्धान्त और सम्प्रदाय हे, उन सवमे रहे हुए मानवीय मूल्यो और सद् विचारो का समान भाव से आदर और सम्मान करे । अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को इतना शक्तिशाली वनाये कि कोई हमे डरा धमका न सके और अपने को इतना सयमनिष्ठ ओर शीलवान वनावे कि हमारे द्वारा किसे के प्रति अन्याय और आत्याचार न हो । अहिसक जीवन की यह कसौटी है ।

अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर ।

□

वीरावतरण

☐ गुलाब चन्द जैन

वीर भगवन पधारे, धराधाम पर,
एक विद्युत लहर, फैल जग में गई ।
स्वर्ग में मध्य में और पाताल तक,
हर्ष आनन्द की, चाँदनी खिल गई ।
हिल उठा सिहासन भी देवेश का,
देव सेना उसी क्षण सजा ली गई,
आये शचियों सहित देव देवेन्द्र सब,
वैशाली में अद्भुत छटा छा गई ।
कौन वर्णन करे उस समय का यहाँ,
वाद्य ध्वनि, जय ध्वनि, सब निराली भई ॥

ले गये वीर को, मेरु गिरि के शिखर,
ऐरावत का अद्भुत, अनूठा सफर,
क्षीर सागर का जल ले अठोत्तर सहस,
स्वर्ण कलशो से, धारा बहाई गई ।
आये देवेन्द्र गण मेरु से लौट कर,
नृत्य ताण्डव किया इन्द्र ने हर्ष भर,
हुये मोहित नगर के सभी नार नर,
लेखनी क्या लिखे वो खुद चकरा गई ।

ढाना (सागर)

☐

सभी प्राणियो को अपने अपने प्राण प्रिय है, सभी सुख चाहते हैं, दु ख सहन करना कोई भी नही चाहता। सुखी जीवन जीने की सबकी प्रवल अभिलाषा रहती है। एमी समान स्थितियो के वावजूद भी लोग एक दूसरे की हिमा करन, कष्ट पहुँचाने पर तुले रहते हैं, यह कहॉं की विसगति है, विचित्रता है ?

अहिसा को महावीर न सर्वोच्च स्थान देकर प्राणी की रक्षा का आह्वान किया। तत्कालीन परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य मे महावीर के इस आह्वान का समाज पर पूरा प्रभाव पड़ा और हिमा का उफान थमा, किन्तु आज की विषम परिस्थिति मे हिसा का जो नग्न ताण्डव दिखाई पड़ रहा है वह वर्वरता का वेमिसाल उदाहरण है।

तथ्यत आज मनुष्य अपनी सवेदनशीलता को ह्रासोन्मुखी पाकर भी चितित नहीं है क्योंकि उसके सामन वेभव विलास की मृगमरीचिका उसे भ्रमित किये हुए हे। इस भ्रम म मवेदनशून्यता वढ़ती जा रही है और प्रतिदिन/प्रतिपल हिमा की हृदय विदारक घटनाओं को सुनकर/देखकर भी उसे रोकने के प्रभावी कदम असरकारक नही हो रहे हें और हिसा का ज्वार वढ़ता ही जा रहा ह।

हिसा को हिसा से दवाना प्रभावशाली नही हो सकता जैसा कि प्रत्यक्ष हम दख रहे है, वरन् इसके प्रतिकूल सम्वल से ही शॉंति आर सुव्यवस्था सभव हो सकती है। तात्पय यह है कि जन जीवन मे शॉंति सद्भाव, सदाचार सत्कर्म, स्नेह आदि सद्गुणो का विकाम किम प्रकार करके उन्हे अहिसा के मार्ग पर लाया जाए इस यथार्थता पर पूर्ण प्रयास आवश्यक ह।

महावीर कालीन भारत म पॉंचो महाव्रत जन-मन पर केसे प्रभावशील हुए इस तथ्य के अतल मे यदि पैठे तो ज्ञात होता है कि भगवान महावीर ने जा कुछ समाज को उपदेश देकर उमे अपनाने का आह्वान किया सर्व प्रथम उन आदर्शों को अपने स्वय के जीवन मे उन्होंने उतारा। यह तथ्य भी है कि दूसरो को उपदेश देने से पूव उपदेशक को स्वय मे उन उपदेशो को मूर्त रूप दने पर ही, वह असरकारक होता है। आज उपदेशक की भूमिका भ्रामक सी प्रतीत होती हे यही कारण है कि सदुपदेश असरकारक नही हो रहे ह ओर हिसा का ज्वार वढ़ता जा रहा है।

आज की हिसा वर्वरता, निममता हृदयहीनता का घृणित रूप प्रस्तुत कर रही है जिसम सभी भस्मीभूत हो रहे हें। प्रत्येक प्राणी आशकित ह डरा हुआ है, भयभीत हे कि पता नही कव उमके प्राण आतकवादी हिसा का ग्रास वन जाये ? जीवन की क्षणभगुरता का भान कराने वाली आज की विकृत हिसा की जितनी भी निन्दा की जाए कम है। अतः एसी विषम परिस्थिति मे अहिसा क उपासको का, अहिसा को मानन वालो का पावनतम कर्त्तव्य हो जाता ह कि वे अहिसा क प्रचार प्रसार को विश्वव्यापी वनान के अभियान मे अपना पूर्ण योगदान दकर विकृत व्यवस्था को वदले जिससे हृदय परिवर्तन के माथ सवेदशीलता नेतिक निखार के साथ वदले और जन-जीवन मे जागृति आये।

अहिमा परमो धर्म अहिसा ही सवसे वड़ा धर्म ह, अत इस धारणा को साकार करने के लिए भारत को पुन विश्व की धूरी वनाना होगा। महावीर कालीन युग मे भी भारत ने विश्व मे अहिसक वातावरण वनाने का प्रतिनिधित्व किया था। आज भी वही आभास हो रहा है कि

भारत के प्रयास से विश्वस्तर पर अहिसा का आह्वान युग को नई दिशा देगा, जिसमें सभी सुखी व सम्पन्नता का अनुभव करेंगे । अतः भगवान महावीर के अहिंसा सिद्धान्त को जन-जन में उतारने का प्रवल प्रयास आज की आवश्यकता है ।

भगवान ने कहा है कि अहिसा-पथ-प्रदर्शन महान विभूतियों का प्रमुख कार्य रहा है, अतः अहिसा का प्रचार-प्रसार कर सभी को महान वनना चाहिए । जैसा कि इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि —"एस मग्गो-आरिएहि पवेइए, जहेत्थ कुसले-नोवलिपिज्जसि"– महापुरुषों द्वारा अहिसा मार्ग सर्वश्रेष्ठ वताया गया है, अतः भूलकर भी हिसा का कार्य नहीं करना चाहिए । भगवान ने तभी तो कहा है कि—

एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिसइ किंचण ।
अहिंसा समयं चैव, एयावन्तं वियाणिया ॥

कोई किसी की भी हिंसा न करें, यही जीव और जगत का मूल सिद्धान्त है, सृष्टि को सँवारने का सम्वल है और मानवता के मंगल का आह्वान है ।

भगवान महावीर का शुभ आविर्भाव चैत्र शुक्ला त्रयोदशी ५९९ ई.पू. सोमवार के दिन हुआ था । संयोग से वर्ष १९९३ में भी महावीर जयंती ५ अप्रैल सोमवार को मनाई जा रही है अतः इस पावन प्रसंग की प्रेरणा से इस वर्ष को अहिसा वर्ष के रूप मे मनाकर "अहिसा" को व्यापक प्रभावशाली वनाने का प्रयास प्रार्थनीय है ।

एच १/१६०, ११०० आवासगृह
महावीर नगर,
भोपाल-१६. (म. प्र.)

□

महावीर जयन्ती : एक अपूर्व अवसर

☐ सत्यधर कुमार सेठी
प्रधान सचालक
अहिसा जैन मिशन, उज्जैन

जेन धर्म ने ही नही किन्तु विश्व के ममम्त धर्मों ने पर्वों को विशेप महत्व दिया ह ओर वे पर्व विश्व के काने-काने मे वड़े आमोद-प्रमोद के रूप मे मनाये जाते ह । लकिन जैन धर्म ने इन पर्व दिवसो को आमोद-प्रमोद का रूप नही देकर आध्यात्मिक चेतना का रूप दिया हे- जिसमे मानव इन पर्व दिनो मे एकात माधना करके अपने जीवन का मार्जन कर । इस एकान्त साधना से स्वय को तो अमिट शान्ति प्राप्त होती ही है लेकिन राष्ट्र को भी नया चिन्तन ओर नया जीवन प्राप्त होता है । इसीलिये दशलक्षण पर्व, सालहकारण भावना पर्व आर रत्नत्रय पर्व की आराधना पर विशेप वल दिया गया है । ये सव आत्मीक गुण है जिनका सम्वन्ध सिर्फ मानवीय भावनाओं से हैं । जेन धर्म ने आत्मीय भावनाओं की आराधना पर ही विशेप वल दिया है, क्योंकि जन धर्म प्राणी विकास पर वल देता हे । उसका सम्वन्ध सम्प्रदाय विशेप, जाति विशेप और वर्ग विशेप से नही है । अत जैन धर्म के साहित्य मे कही भी वर्ण भेद, जाति भेद, ममुदायगत भेद भापागत भेद को नही स्वीकारा गया है, वह एक विशुद्ध आत्मावादी धर्म है । इसी महान् लक्ष्य को लेकर विश्ववद्य भगवान महावीर ने राष्ट्र को प्राणवान् वनाने के लिए तथा मानवता को जीवित रखने के लिए अहिसा सत्य अपरिग्रह और अनेकान्त विचारधारा का ही प्रचार और प्रसार किया जिससे विश्व के ममस्त प्राणिया मे समता की भावनाये जागृत हुई । घर-घर मे भाईचारा प्रेम महअस्तित्व की भावनाय जागृत हुई । उन्हांने समस्त आग्रहो को खत्म करने के लिये ही अनेकान्त विचारधारा का प्रचार और प्रमार किया । जिससे उनके युग मे साम्प्रदायिक भावनाये वल नहीं पकड़ मकी । सारे विश्व मे एक शोपणहीन अहिसक क्रान्ति पैदा हो गइ । कहा गया है कि महावीर की सभाओं मे जाति विराधी जीव भी एक जगह बैठकर शान्ति की श्वासे लेते थे । उनकी वैर विराध की भावनाये खत्म हो जाती थी । यह सव प्रभाव भगवान महावीर की अहिसक भावनाओं का ही था ।

आज हम ऐसे समय मे भगवान महावीर का जयन्ती दिवस मना रहे हे जवकि विश्व के समम्त राष्ट्र हिसा ओर साम्प्रदायिक भावनाओं से त्रसित दु खित आर व्यथित ह । जैन समाज के लिए यह अपूर्व अवसर ह कि वह इस पवित्र दिवस का सिर्फ जुलूसो आर जयकारो के वीच न मनावे । वह अपनी सकीर्ण भावनाओं को त्यागकर पुन राष्ट्र को जीवन देने के लिए आगे वढ़े और घर-घर म जाकर भगवान महावीर के सिद्धान्तो का प्रचार-प्रसार करें । भगवान महावीर के सिद्धान्तो के प्रचार की आज उतनी ही आवश्यकता हे जितनी पूर्व मे नही थी ।

आज मानव दानव बन रहा है। उसमें राक्षसी भावनायें पनपती जा रही है। हिंसा, लूटपाट, व्यभिचार, बलात्कार, हत्याओं का जोर बढ़ता जा रहा है। राष्ट्र का जिन पर भरोसा है वे सब स्वयं विवादों में उलझे हुए हैं। उनसे राष्ट्र को प्राण या जीवन नहीं मिल सकता। महावीर जयन्ती एक राष्ट्रीय पर्व है। इसका बड़ा महत्व है। मैं तो इस पुनीत अवसर पर राष्ट्र सन्त परमपूज्य आचार्य विद्यानन्द जी महाराज, परम आध्यात्मिक सन्त परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज के पवित्र चरणों में निवेदन करूंगा कि वे इस सिसकती हुई मानवता को जीवन देने के लिए अपने चरण आगे बढ़ावें। आज भी जैन सन्तों का आदर्श है। उनके विचारों को सुनने के लिए हजारों की संख्या में जनसमूह एकत्रित होता है और उनको नया चिन्तन मिलता है। उनके विचारों से राष्ट्र के मानव में भाई-चारा, सहअस्तित्व की भावनायें जागृत होगी। जो देश में साम्प्रदायिकता का जहर फैला हुआ है वह खत्म होगा। समय का तकाजा है सही मार्ग-दर्शकों का। जनता ने समझ लिया है साम्प्रदायिकता जहर है, इससे मानव-मानव में भेद की खाईयां पैदा होती है। ऐसी स्थिति में भगवान महावीर के सिद्धान्तो के प्रचार से ही राष्ट्र में भाईचारा-प्रेम और सहअस्तित्व की भावना जागृत होकर राष्ट्र रक्षा की जा सकती है।

जैन समाज के परमपूज्य सन्तों, विद्वानों और कार्यकर्त्ताओं से निवेदन है कि वे इस अपूर्व अवसर को सार्थक करें। ऐसे भी जैन विचारधारा पर बड़े-बड़े सनातनी सन्तों विद्वानों का गहरा चिन्तन है और वे काफी प्रभावित हैं। सिंहस्थ जैसे पर्व पर मैंने यह खूब अनुभव किया है। मैं सिंहस्थ समिति का मेम्बर था। मुझे बड़े-बड़े सन्तों के पास जाने का अवसर ही नहीं मिला, उनसे चर्चायें भी की। कितने ही मण्डलेश्वर सन्तों ने कहा कि आपके सिद्धान्त वास्तव में मानवतावादी हैं। हम उनसे प्रभावित है। महामण्डलेश्वर स्वामी परमानन्द जी हरिद्वार ने हजारों की उपस्थिति मे नमस्कार मन्त्र पर प्रवचन देते हुए कहा कि यह जैनो का ही नही मानव मात्र के लिए आराधनीय मन्त्र है। इस मन्त्र में कही भी किसी सम्प्रदाय विशेष को स्थान नहीं है। 15 मिनट तक नमस्कार मन्त्र पर उनका भाषण था। अतः राष्ट्र की इस विकट स्थिति में हमें इस अवसर पर संकल्प लेकर आगे बढ़ना चाहिए। साथ में स्वयं जैनों को भी आत्म निरीक्षण करना चाहिए कि आज हम स्वयं आचारहीन बनते जा रहे है। रात्रि भोजन, अभक्ष्य-भक्षण हमारा जीवन होता जा रहा है। क्या इन कृत्यों से हमारा जैनत्व बच जायगा ? जैनत्व तब ही जिन्दा रहेगा जब हम स्वयं भगवान महावीर के सिद्धान्तों का परिपालन करेंगे।

जैन वह है जिनमें बुराइयां नही है। महावीर की जय बोलने से, आयोजन कराने से जैनत्व जिन्दा नही रहेगा। हम उन महान सन्त के उपासक है जिन्होंने मानव को मानवता देने के लिए अपना समस्त जीवन अर्पित कर दिया। पर्व और आयोजन जीवन परिवर्तन चाहते है। अतः हमारा कर्त्तव्य होता है कि हम अहिंसक तरीके से जीवन जीना सीखें। खान-पान व्यवहार हमारा अहिंसक होना चाहिए। महिलाओं का भी कर्त्तव्य होता है कि वे हिंसाजन्य वस्त्रों का, नेल पालिश, होंठ पालिश आदि का उपयोग नहीं करें। तब ही हमें उपासना गृहों में बैठकर भगवान महावीर की जयकारें लगाने का हक है। महावीर के शासन में आचार और विचार दोनों को महत्त्व दिया गया है। आशा है समाज के चिन्तक इस नम्र निवेदन पर ध्यान देकर महावीर जयन्ती पर संकल्प लेंगे जैनत्व के प्रचार और प्रसार का।

उज्जैन (म. प्र.)

मानव जीवन और आचार संहिता

☐ मोहनराज
भू पू विधायक वाली

हमारे जीवन को सुसस्कृत, समृद्ध, स्वस्थ और सुखी वनाने की जितनी विधियाँ अव तक प्रकाश मे आयी ह, उनमे जैन आचार सहिता के दिशा निर्देश सर्वोत्तम हैं। उसक मुख्य कारण है जीवन के विभिन्न पहुलुओं, स्वभावो का गहन अध्ययन, गुढ विचार-चिन्तन। इसके फलस्वरूप जो सिद्धान्त या विधियाँ विकसित हुई हैं वे सर्वकालिक और सार्वभौमिक है। विषय को गम्भीर ओर आध्यात्मिक न वनाते हुए म अपने आपको सीधे मानव के दैनन्दिन जीवन से सवधित प्रमुख वातो तक ही सीमित रखूँगा।

सर्वप्रथम नियम या व्रत को ही ल। जैन आचार विचार मे नियम या व्रत का अत्यधिक महत्व माना गया है। नियम कठोर हो या मामूली उसका अपना महत्व ह। वह जीवन के लिये Regulatry System प्रदान करता है वृत्तिया को नियत्रण मे रखने के लिये आवश्यक मनोवल का विकास होता हे, साहस और विश्वास दृढ़ होते ह जीवन मे जोखिम भरे कार्य उठाने की क्षमता का प्रार्दुर्भाव होता है। जीवन मे अतिक्रमण की प्रवृत्ति आर स्वच्छन्द व्यवहार पर सोम्य ओर स्थायी अकुश लगाने का प्रभावी तरीका नियम या व्रत का पालन ही ह। आज कल लोगो को अक्सर कहते सुना जाता है ये नियम व्रत ढ़कोसले ह, इनका धर्मपूर्वक या सेवामय जीवन वितान से कोई सम्वन्ध नही इसस तो जीवन कष्टमय और दुखी ही होता है। आर, यह ध्रुव सत्य ह, जिसस दु खी वनता हा वह व्रत या नियम निरर्थक है। पर सुख या दुख का स्वाद तो नियम या व्रत की पूर्णाहुति पर आता ह। इसमे पहले का अनुभव तो हमारे मे छिपी आसुरी ओर दैवी शक्तियो का द्वन्द है। अनुभव करके देखिये छोटे से छोटे आर साधारण नियम की सफल पालना कर आप अपन आपको विजयी महसूस करते हे और आग के कई मुश्किल कार्य सरल दिखते लगते हे। शारीरिक सुव्यवस्था का यह प्रथम सोपान ह। इसके पश्चात जीवन के लिए आवश्यक सद्गुणा के प्रवेश व विकास का रास्ता खुल जाता हे। मनुष्य समाज का अग है। जीवन म आचार सहिता या व्यवहार नियम विधि एक स अधिक हाने पर ही आवश्यक होती है। या ता द्रव्य क्षत्र काल की दृष्टि से अनक विधियो व्यवहारो मान्यताओं, परम्पराओं मे परिवर्तन होते ही रहते है। पर कुछ ऐसी मूल वाते ह जिनका निरूपण मानव स्वभाव के गहन अध्ययन के पश्चात किया जाता है आर जीवन के लिए स्थायी महत्व रखती ह। हमार जीवन मूल्यो का आधार वे ही है।

करुणा दया या मेत्रीभाव को लिजिये। मानव समाज का निर्माण ही इनके आधार पर हुआ है। हमारी समस्याओं-आवश्यकताओं न हमारा दृष्टिकोण व्यापक वनाया है। पारस्परिक आलवन सहयोग से न केवल हमारा ही जीवन सभव हे, वरन् सारा विकास, भौतिक और

आध्यात्मिक भी, तभी संभव है जब हम 'जिओ और जीने दोऔर जीने में सहयोगी बनों' को आधार मानकर अपना जीवन व्यवहार चलावें । उसमें प्रमुख प्रश्न है भावना का । आपको जीवन में कई बार अनुभव हुआ होगा कि जब-जब आपके मनोभाव मंगलकारी और शुभ होते हैं तब हृदय उल्लास से भर जाता है, और जब-जब हृदय में वैर, क्रोध, बदले की भावना या दुर्भाव पैदा होते है या ऐसे भाव रखने वाले व्यक्ति सम्पर्क में आते हैं, तो सारा माहौल बदल जाता है । खून की गति, हृदय की गति, रक्तचाप, चेहरे का रूप रंग सभी कुछ बदल जाते है। वैज्ञानिकों ने साबित किया है कि अशुभभावों के प्रवेश के साथ ही स्वास्थ्य रक्षक हजारों सफेद रक्त कण क्षणभर में नष्ट हो जाते है, और मांगलिक विचारों के साथ इनमें इतने ही रक्त कणों की वृद्धि हो जाती है । इसलिए अंहिसा को सभ्य समाज ने इतना अधिक महत्व दिया है। अहिसा के अभाव में अन्य किसी भी गुण का विकास सम्भव नहीं है, और 'एके साधे सब सधे' के अनुसार यदि अहिंसा का भाव हमारी जीवन चर्या का मार्गदर्शक बना रहता है तो फिर स्वतः ही जीवन सुखी, समृद्ध और आनन्दमय बन जाता है । यदि जीवन में अहिसा फैल जावे तो समानता संभव है । महावीर परिग्रह को हिंसा की संज्ञा देते है । मालिकी का मोह हिंसा के द्वार खोलता है, इंसान से न जाने क्या-क्या दुष्कृत्य करवाता है । इसी तरह जीवन में सच्चाई, शील, मर्यादा और व्यवहार शुद्धि का महत्व कम नहीं है । इनके लिये समाज ने समय विशेष को ध्यान में रखते हुए कई नियम-कानून बनाये है । इनमें परिवर्तन होते रहते है- होते रहेंगे, पर जीवन के लिए मूलाचार रूप जिन पॉच व्रतों या नियमों का शास्त्रों में निरुपण किया गया है वे सदा सत्य और शाश्वत रहेंगे ।

यह सही है कि इन महाव्रतों या अणुव्रतों को लेकर भी मतैक्य नहीं है, पर उसका कारण हमारे सोचने समझने में अनेकान्त दृष्टि का अभाव है । विवादों को सुलझाने में जब तक अनेकान्त दृष्टि नही अपनायेंगे तब तक न तो सत्य शोधन होगा, न ही जीवन में अहिसा भाव का विस्तार होगा ।

जीवन के उच्चतम शिखर पर आरूढ होने के लिए अहिसा, संयम, और तप को प्राथमिकता दी गयी है । सयंम और तप की साधना से अहिसा भाव का विकास होता है और उसमें स्थायित्व आता है । इस जीवन आचार-सहिता को छोटे-छोटे नियमों व व्रतों के सहारे जीवन में उतारने का प्रयत्न करें तो विश्व की विषम से विषम परिस्थितियाँ -युद्ध उन्माद, आतंकवाद, सम्प्रदायवाद, या पर्यावरण प्रदूषण, दहेज, बेकारी, संग्रहवृत्ति, कालाबाजारी या कर चोरी से उत्पन्न असन्तुलन की परिस्थिति-गर्मी का निराकरण शान्तिपूर्वक संभव हो जाये ।

समाधिमरण क्यो व कैसे ?

☐ तारा चन्द गोदीका

जैन शास्त्रो मे मरण पाँच प्रकार का बतलाया गया है। (1) पडित पडित मरण - यह केवली भगवान के ही होता है - अर्थात् इसके होने पर फिर देह धारण नही होती (2) पडित मरण - यह मुनियो के होता है - इसके होने पर दो-तीन भव मे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है (3) बाल पडित मरण - यह देश सयमी श्रावक के होता है - इसके होने पर सोलहवे स्वर्ग तक की प्राप्ति हो सकती है (4) बाल मरण - यह अविरत सम्यक् दृष्टि के होता है तथा यदि पूर्व मे अन्य आयु न बाँधी हो तो स्वर्ग की प्राप्ति करता है तथा (5) बाल बाल मरण - यह मिथ्या दृष्टि के होता है तथा चतुर्गति भ्रमण का कारण है।

समता सहित, ममता रहित शरीर का त्याग ही समाधिमरण कहलाता है। सल्लेखना मरण, समाधिमरण, सन्यास मरण ये तीनो ही एकार्थवाची शब्द हैं। भले प्रकार काय तथा कषाय के कृश करने को सल्लेखना कहते है। चित्त को शात अर्थात् राग द्वेष की मन्दता युक्त करना समाधि कहलाती है तथा अपनी आत्मा से पर पदार्थों को त्यागना सो सन्यास कहाता है। अतएव कार्य एव कषाय को कृश करते हुये, आत्म स्वरूप का ध्यान करते हुये शात चित्त अपने शरीर रूप गृह को त्यागना ही सुमरण है। इस प्रकार सुमरण करने वाले भव्य पुरुष अपने साधे हुये सम्यक् दर्शन-ज्ञान चारित्र रूपी धर्म को अगले भव मे भी अपने साथ ले जाते हैं तथा अधिक से अधिक सात-आठ भव मे मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं।

समाधिमरण दो प्रकार का होता है- सविचार तथा अविचार।

सविचार समाधिमरण - जब शरीर अति वृद्ध हो जाय अर्थात् चरित्र को हानि पहुचाने वाली अवस्था आ जाये, या असाध्य रोग हो जाये जिसका इलाज होना असभव हो, अथवा मरण काल सन्निकट हो तो अपनी काय एव कषाय को कृश करते हुये अन्त मे क्रम-क्रम से चार प्रकार के आहार को त्याग कर धर्म ध्यान सहित मरण करना सविचार समाधिमरण है।

अविचार समाधिमरण - जब अनजाने मे अचानक ही देव - मनुष्य, तिर्यन्च अथवा अचेतन कृत उपसर्ग आ जाय - यथा, घर मे आग लग जाये और निकलने का कोई उपाय न रहे, बीच समुद्र मे जहाज डूबने लगे, अचानक दुर्भिक्ष आ जाये आर अन्न पान न मिले - ऐसे अचानक कारणो के उपस्थित होने पर अपने शरीर को तेलरहित दीपक के समान स्वमेव विनाश के सम्मुख आया जान सन्यास धारण करे अर्थात् एक एक काय से ममत्व छोड़, शात परिणामोयुक्त हो चार प्रकार का आहार त्याग कर समाधिमरण करना सो अविचार समाधिमरण कहलाता है। सविचार समाधिमरण करने वाला प्रथम ही अपने परिवार आदि को इस प्रकार

सम्बोधन कर उनसे ममत्व छुड़ावे कि "हे मेरे इस शरीर के माता-पिता-स्त्री पुत्रादि ! अव यह शरीर मरण अर्थात् नाश को प्राप्त होने वाला है । तुम्हारा अव इससे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है । हमारा तुम्हारा इतना ही संयोग था सो पूरा हुआ । संयोग-वियोग की यह दशा एक न एक दिन सव पर वीतने वाली है । इसलिये मुझसे अव मोह ममत्व छोड़ कर शांत भाव धारण करो और मेरे कल्याण में सहायक वनो ।" इस प्रकार उन्हें समझा कर पुत्रादि को गृहस्थी का भार पूर्णरूपेण सौंप दें । जिसको जो कुछ देना हो देवे, दान पुण्य का जैसा भाव हो करे और पीछे निशल्य होकर अपने आत्म कार्य में लगे । सुहावने तथा स्वच्छ स्थान में शुद्ध धरातल पर योग्यतानुसार विछौना/चटाई आदि पर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुंह करके वैठे, लेटे तथा सम्पूर्ण परिग्रह से निर्मम हो पंच परमेष्ठी के सम्मुख अपने पूर्व कृत दुष्कर्मो की आलोचना करे तथा द्वादशानुप्रेक्षा का चिंतवन करे ।

यह वारह भावनायें वैराग्य की माता, संवेग/निर्वेद की उत्पादक है । इनके चिंतवन से संसार से विरक्ति होकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप भावनाओं में प्रगाढ़ रुचि उत्पन्न होती है । निकटवर्ती साधर्मी भाइयों को भी चाहिये कि समाधिमरण करने वाले का उत्साह हर पल वढ़ाते रहे, धर्म ध्यान में सावधान कराते रहे, वैयावृत्य करते हुये सदुपदेश देवें और रत्नत्रय में उपयोग स्थिर करावें । समाधिमरण करने वाले को अन्त समय में आहारादि इस प्रकार घटाना तथा चिंतवन करना चाहिये - यथा, प्रथम ही अन्न के वदले क्रम-क्रम से दूध पीवें, फिर छाछ और उसके वाद प्राशुक जल ही रखें । जव देंखे कि अव आयु दो चार पहर अथवा एकाध दिन की ही शेष है तव शक्ति अनुसार चारों प्रकार के आहारादि-का-त्याग कर दें । योग्यता तथा आवश्यकतानुसार ओढ़ने-पहनने मात्र अल्प वस्त्र का परिग्रह रखे । यदि शक्ति हो तो सव प्रकार का परिग्रह त्याग चटाई आदि पर पद्मासन या पर्यकासन से वैठ जावे, यदि वैठने की शक्ति न हो तो लेट जावे और मन वचन काय को स्थिर कर धीरे-धीरे समाधिमरण मे दृढ़ करने वाले पाठ पढ़े अथवा साधर्मी जनों के द्वारा वोले हुये पाठों के वचन रुचिपूर्वक सुने । जव विल्कुल शक्ति घट जाये तो केवल णमोकार मंत्र ही जपे, पंच परमेष्टी का ध्यान करें । जव ऐसी शक्ति भी न हो तव निकटवर्ती धर्मात्मा पुरुष धीरे-धीरे सुमधुर रूप से उसे सावधान करते हुये केवल 'अरिहन्त-सिद्ध' या 'सिद्ध' नाम मात्र ही सुनावे । यह विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये कि समाधिमरण करने वाले के पास कुटुम्वी अथवा दूसरे कोई व्यक्ति सांसारिक वार्तालाप न करें, रोवें नहीं, कोलाहल न करें क्योंकि ऐसा होने से उसका मन उद्वेग रूप हो सकता है ।

समाधिमरण करने वाले को निम्नलिखित पाँच अतिचार त्यागने योग्य हैं :-

1. जीवित आशंसा :- ऐसी वांछा करना कि यदि मैं अच्छा हो जाऊं और कुछ काल और जीऊं तो अच्छा हो ।
2. मरण आशंसा :- ऐसी इच्छा करना कि पीड़ा वहुत हो रही है, अतः यदि शीघ्र मर जाऊं तो अच्छा हो ।
3. मित्रानुराग :- माता, पिता, स्त्री, पुत्र, आदि की प्रीति का स्मरण तथा मिलने की इच्छा करना ।
4. सुखानुबंध :- पूर्व काल में भोगे हुये भोगों का स्मरण करना ।

5 निदान - पर भव मे सासारिक विषय भोगो की प्राप्ति की वाछा करना ।

जो सत्पुरुष अतीचार रहित सन्याससमरण करते हैं वे अपने किये हुये व्रत रूप मदिर पर मानो कलश चढ़ाते हुये स्वर्ग मे देव होते हैं । समाधिमरण के भले प्रकार साधन से अगले जन्म की वासना चली जाती है ।

इस सम्बन्ध मे यह स्पष्ट करना उचित होगा कि कोई-कोई अज्ञानी पुरुष समाधिमरण का अभिप्राय अच्छी तरह समझे विना धर्म साधन के योग्य शरीर होते हुये और भले प्रकार धर्म साधन होते हुये भी अज्ञान अथवा फिर कषायवश विष, शस्त्र-घातादि से मरते अथवा अग्नि मे पड़ते हैं या इसी प्रकार अन्य अनुचित रीति से प्राण त्यागते है जो कि आत्मघात स्वरूप है तथा निंद्य और नरकादि कुगति को ले जाने वाला है । ज्ञानी पुरूष मरण के सन्मुख होते हुये, निष्कषायपूर्वक शरीर त्यागते हैं । उनका ऐसा सुमरण अज्ञान रागादि कषायो के अभाव के कारण आत्मघात नही है, किन्तु ज्ञानपूर्वक मद कषाय होने से वर्तमान सुख का तथा परम्परा से मोक्ष प्राप्ति का कारण है । जैसे युद्ध में सफल होने के लिए एक सैनिक को युद्ध से पूर्व भी सतत् अभ्यास करना होता है, ठीक उसी प्रकार समाधिमरण धारण करने की इच्छा रखने वाले भव्य जीव को भी अपने जीवनकाल मे ऐसी भावना भाते रहना चाहिये, दर्शन ज्ञान चारित्र को निर्मल बनाने का सतत् प्रयास करते रहना चाहिए ।

637, बोरडी का रास्ता,
किशनपोल बाजार,
जयपुर - 3

❑

उच्छृंखल भोगवाद और महावीर की व्रत-व्यवस्था

☐ मुनि सुखलाल

बीसवीं सदी की भोगवादी प्रकृत संस्कृति की भयंकर देन है एड्स की बीमारी । यद्यपि विज्ञान ने बहुत सारी अचिकित्स्य व्याधियों का ईलाज खोज लिया है, पर अथक परिश्रम के बावजूद भी इस बीमारी की कोई भी चिकित्सा अभी तक संभव नही हो पाई है । पूरी दुनियां मे इस बीमारी ने इतनी दहशत फैला दी है कि इससे आक्रान्त बीमार एक प्रकार से पूरी दुनियाँ से कट जाता है । रोग की रहस्यात्मकता के कारण भय का वातावरण बढ़ता जा रहा है। इसके वाइरस की उद्भवन–क्षमता नौ महीने से छह साल तक है जिसमें रोगी को पता ही नही चलता कि उसके शरीर में इसके कीटाणु हैं या नही । साधारण परीक्षणो द्वारा भी इसके वाइरसों का पता नही लगाया जा सकता ।

एड्स का वाइरस सर्वप्रथम रक्त कणिकाओं को नष्ट करने लगता है, जिससे शरीर की प्रतिरोधक क्षमता धीरे-धीरे नष्ट होने लगती है । यद्यपि इसकी पुष्टि खून की जांच तथा प्रयोगशाला के परीक्षणों से ही संभव है, फिर भी कुछ बाहरी लक्षणों द्वारा भी इसका अनुमान लगाया जाता है । इस के मुख्य लक्षण है – वजन में निरंतर कमी, रुक-रुक कर होने वाला बुखार, सूजी हुई ग्रन्थियाँ, लगातार पानी जैसे पतले दस्त, रात में पसीना तथा शरीर में एवं मुँह और भोजन नली में सफेद दाग या जख्म, मस्तिष्क एवं स्नायुतंत्र का काम न करना, आदि-आदि जिस व्यक्ति को यह रोग हो जाता है उसके स्पर्श से चाहे यह रोग संक्रान्त न भी हो पर फिर भी उसका सामाजिक-पारिवारिक जीवन नष्ट हो जाता है । इसके वाइरस एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक रक्त या वीर्य के माध्यम से पहुँचते है । नसों में सुइयों द्वारा नशे की दवा लेने वालों में इस रोग की अधिक संभावना दिखाई पड़ रही है, लेकिन बहुसंख्यक मरीज समलैंगिक ही होते है । स्वच्छन्द यौन-जीवन ने जहां नैतिक-मूल्यों को विखण्डित कर दिया है वहां पुरुष एवं पुरुष, एवं नारी एवं नारी के बीच उद्दाम सेक्स सम्बन्धों को प्रोत्साहन मिला है । एड्स समलैंगिक सम्बन्धों से शुरू होता है तथा फिर यह पूरे समाज-परिवार में द्रुतगति से फैलता जाता है । इस दृष्टि से बच्चों के साथ जो अमानवीय व्यवहार किया जाता है वह तो अत्यन्त दारुण है । यही कारण है कि पूरे समाज-राष्ट्र में ऐसे लोगों के प्रति तीव्र अस्पृश्यता की भावना पैदा हो गई है । फायरमैन, एम्बुलैंस कर्मचारी तथा प्राथमिक से जुड़े लोग इसके मरीजों को लाने-लेजाने तथा प्राथमिक चिकित्सा से इन्कार कर रहे है । यहां तक कि थियेटरों के सफाई कर्मचारी भी नाटकों के बाद सफाई करने से हिचकिचाते है । गोदरेज कम्पनी तक ने एड्स पीड़ित लोगों को रोकने से इन्कार कर दिया है । कारागार कर्मचारियों के यूनियनों ने ऐसी धमकी दी है कि एड्स रोगियों की सम्पूर्ण जानकारी नहीं दी तो हम कैदियों को लाना ले जाना छोड़ देंगे । कुछ एयर लाइन्स ने भी ऐसे लोगों की यात्रा पर प्रतिबन्ध लगा दिया है ।

यद्यपि डॉक्टर अपनी सफाई [illegible] रहे हैं । पर [illegible] है कि [illegible] अन्तर्राष्ट्रीय [illegible] है,

लेकिन इस बात की पुष्टि अभी तक नही हुई है कि इसके वाइरस चुम्बन द्वारा भी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति मे सक्रात होते हैं या नही । चिकित्सा विशेषज्ञो का अनुमान है कि 90 प्रतिशत लोगो मे एड्स के वाइरस प्रारभिक चरण से आगे नही बढ़ पाते । अमेरिका तथा फ्रास के वैज्ञानिको के अथक परिश्रम के बाद पेरिस के प्रोफेसर लुई माडनेर ने इनके वाइरस को खोज निकाला था । लेकिन अभी तक इसे नष्ट करने के लिए कोई वैक्सीन खोज निकालने मे सफलता नही मिली है । माना जाता है कि प्रारभ मे इस रोग की शुरूआत अफ्रीका से शुरू हुई थी । पर आज तो सभी जगह इस रोग ने अपने पाव फैला दिए हैं ।

विश्व स्वास्थ्य सगठन की ताजा रिपोर्ट के अनुसार भारत मे करीब एक लाख एड्स ग्रस्त लोग हैं । विश्व मे एक करोड़ बच्चे इस बीमारी के कारण अनाथ हो जायेगे । एक करोड़ व्यक्ति इस जानलेवा बीमारी के शिकार होगे । तीस लाख गर्भ-धारण करने योग्य महिलाएँ भी इसकी शिकार हो जायेगी । एशिया मे थाईलैंड इसका प्रमुख अड्डा है । जहा 23500 से अधिक व्यक्ति एड्स से ग्रस्त है । अफ्रीकी देशो मे लगभग 5000000 लोग एड्स के मरीज बन चुके हैं ।

एन्टीनारकोटिक कैम्पेन समिति जोधपुर के हवाले से डॉ के एल गोयल बताते है कि वैश्यावृति के कारण यह बीमारी ज्यादा फैलती है । यूरोप मे 57 प्रतिशत एड्स के बीमार हेरोइन के नशेबाज है । इम्फाल मे तो 80 प्रतिशत एड्स मरीज हेरोइन के नशेबाज हैं । भारत के पूर्वी राज्यो मे हेरोइन के नशे के कारण यह बीमारी विकराल रूप ले सकती है । यही हाल विदेशी पर्यटको के कारण अनेक पर्यटन केन्द्रो मे भी सभव है । आवश्यकता है इस दृष्टि से पूर्ण सजगता बरती जाये ।

ऐसी स्थिति मे भगवान महावीर द्वारा निर्दिष्ट चौथे अणुव्रत स्वदार सतोष व्रत का अतिशय मूल्य हो जाता है । गृहस्थ के लिए महाव्रत का पालन कठिन होता है । पर यदि अणुव्रतो का भी सही अनुपालन करे तो इस लाईलाज बीमारी से सामना ही न हो ।

आचार्य भिक्षु ने इस व्रत का विवेचन करते हुए बहुत ही मार्मिक शब्दो मे कहा है—

> चौथे व्रत में जान, अबम ताणा पचक्खान
> देवागना मनुष्यणीए, न्यागे तिर्यंचणीए
> वले पोतारी नार, तेहनु करे विचार
> तजे दिन रात री ए परणी हाथ री ए
> पक्खी आदिक ना नेम, नित तो पाले एम
> मोहिनी परिहरेए, आत्मा वश करे ए

उपरोक्त विधि से जब आदमी एक पत्नीव्रत का पालन करता है तो अप्राकृतिक यौन सम्बन्ध, वेश्या गमन, तथा पर स्त्री-गमन का तो अपने आप परित्याग हो जाता है, साथ ही साथ असामाजिक तथा अस्वास्थकर आचरण से बचते हुए एड्स की बीमारी से तो स्वय ही बच जाता है । तीव्रतम भोगासक्ति से बचना एक आध्यात्मिक उपदेश तो है ही, पर आज तो इसकी शारीरिक उपयोगिता भी स्पष्ट हो चुकी है । पहले कुछ लोग इसे आत्म-दमन कह कर मखौल उडाते थे, पर आज उच्छृखल भोगवाद विनाश के जिस कगार पर खड़ा है उससे प्राचीन आध्यात्मिक मूल्यो की प्रामणिकता पुन जाग उठी है ।

☐

राष्ट्र को महावीर मय बनाने की आवश्यकता

☐ डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल

तीर्थंकर महावीर विश्व के उन महापुरुषों की प्रथम पंक्ति में आते हैं जिन्होंने मानव मात्र के अभ्युदय की ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने विश्वशान्ति एवं विश्व-बन्धुत्व की भावना से जीवन निर्माण की कला सिखायी और देश के सामूहिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया। विश्व को आज भी उनके निर्वाण के 2519 वर्ष पश्चात् भी उनके बताये हुए मार्ग पर चलने के अतिरिक्त और कोई प्रशस्त मार्ग दिखाई नहीं देता। जैसे-जैसे विश्व विज्ञान के नये-नये आविष्कारों में उलझता जाता है, क्षणिक सुख की श्वास लेता है, उसके तत्काल बाद उसको महावीर की अहिंसा, विश्व-बन्धुत्व, सर्वधर्म, समभाव जैसे सिद्धान्तों का महत्व समझ में आने लगता है।

आज समूचे राष्ट्र में हिसा पनप रही है लोगों के सोच-विचार पर हिसा की प्रवृत्ति हावी हो रही है। सामाजिक, राजनैतिक एवं व्यावसायिक जीवन में हिंसक प्रवृत्ति को अपनाकर काम निकालने की प्रवृत्ति को बढावा मिल रहा है। जो शान्त स्वभावी होते हैं उनका कार्य नहीं होता, किन्तु जो हिसक मनोवृत्ति के होते हैं, मरने-मारने में पीछे नहीं हटते उनका कार्य शीघ्रता से हो जाता है। आतंकवाद, सम्प्रदायवाद के नाम पर उग्रवाद एवं अलगाववाद ने लोगों को हथियार उठाना सिखा दिया है और प्रतिदिन पचासों निरपराध लोगों की हत्याऐं हो रही हैं। मामूली सी बात पर खून की नदियां बह जाती है तथा कौन कब किसके हत्थे चढ जावेगा उसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता।

भगवान महावीर के युग में यज्ञों में ही पशु बलि होती थी तथा हिंसा का बोलबाला था, लेकिन आज तो स्वयं सरकार ने भी बड़े-बड़े बूचडखाने खोल दिये है जिनमे प्रतिदिन हजारों लाखों निरपराध एवं मूक पशुओं की हत्या होती है। अण्डों का प्रचार तो हमारी सरकार साग सब्जी जैसे कर रही है तथा शुद्ध सात्विक एवं शाकाहारी भारतीय संस्कृति को मिटाकर उसे मांसाहारी बना रही है। सही बात तो यह है कि हिंसा का एवं मांसाहार का जितना प्रचार मुगल शासन में एवं अंग्रेजी शासन मे नहीं हुआ था उससे पचास गुना अधिक मांसाहार का प्रचार भारतीय सरकार द्वारा हो गया है। इसलिये देश में जब तक अहिंसा का प्रचार नहीं होगा और मांसाहार से नहीं बचा जावेगा तब तक आतंकवाद एवं उग्रवाद से देश भयभीत रहेगा।

सर्व-धर्म समभाव महावीर का दूसरा प्रमुख सिद्धान्त है। आज धर्म के नाम पर जितनी लड़ाइयाँ, खून खराबा, घृणा एवं विरोध का वातावरण बन गया है उससे देश के विकास को बहुत हानि पहुंचायी है तथा विरोधी धर्मों में साथ रहने पर भी भाईचारा एवं मधुर व्यवहार

समाप्त हो गया है । हम लोग छोटी छोटी घटनाओं पर एक दूसरे के खून के प्यासे बन जाते हैं। इसलिये भगवान महावीर द्वारा बतलाये हुये समता भाव, सर्व धर्म समभाव, धार्मिक सद्भाव की महती आवश्यकता है । महावीर के युग मे असहिष्णुता थी तथा छोटे बड़े 363 मत प्रचलित थे जो वाद विवादो मे फसे रहते थे । राजा का धर्म ही राष्ट्र का धर्म होता था लेकिन वर्तमान मे सविधान द्वारा राष्ट्र का कोई एक धर्म नही है और सभी धर्म उसके हैं । न वह किसी का विरोधी है और न पक्षपाती अथवा हिमायती । फिर भी जितने साम्प्रदायिक उपद्रव सन् 1947 के पश्चात् हुये उसने तो सभी रिकार्ड तोड़ दिये हैं और लोगो मे भय एव असुरक्षा की भावना भर चुकी है और देश मे शान्त स्वभावी लोगो का जीना कठिन हो चला है ।

राष्ट्र को महावीरमय बनाने के लिये सग्रह मनोवृत्ति पर भी अकुश लगाना पड़ेगा। पैसे के पीछे दौड़ने की देश मे जो होड सी लगी है उसने देश की नैतिकता, ईमानदारी, सच्चाई सभी पर पानी फेर दिया है । अब लक्षाधीश बनने का तो कोई अर्थ नही रह गया । लोगो मे कोट्याधीश एव अरबपति बनने की ललक बढ चुकी है । विवाह मे 2-3 लाख खर्च तो एकदम सामान्य बात हो गयी है । रहने के लिए भवन निर्माण म करोड़ो लगने लगे है । बम्बई, कलकत्ता, देहली, एव कानपुर जैसे शहरो मे गगन चुम्बी मकान बन रहे हैं जिन पर करोड़ो मे लागत आती है । विलास की जो वस्तुये पहिले राजा महाराजाओं को भी नसीब नही होती थी वह सब वर्तमान मे बड़े-बड़े व्यापारियो, उद्योगपतियो, शासनाधिकारियो को प्राप्त हो रही है । ऐसा जीवन पाने के लिये लोग सब कुछ करने को तैयार रहते हैं । तस्करी, मिलावट, घूसखोरी जीवन का अग बन चुकी है । हमारी यह मनोवृत्ति देश को कहाँ ले जावेगी इसके सम्बन्ध मे कुछ नही कहा जा सकता ।

इन सबका इलाज भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट मार्ग मे निहित है । देश को सभी खतरो से बचाने के लिये उनकी शिक्षाओं की बहुत आवश्यकता है । जब तक देश महावीरमय नही बनेगा, अहिसा, शाकाहार, सर्व धर्म समभाव एव नैतिकता पूर्ण जीवन यापन करना हमारे स्वभाव मे सम्मिलित नही होगा तब तक देश विकास के पथ पर अग्रसर नही हो सकता । इसलिये राष्ट्र को महावीरमय बनाने की जितनी आज आवश्यकता है उतनी इसके पूर्व कभी नही रही ।

□

स्मरणीय तथ्य

क्षीर सागर के जल से ही भगवान का अभिषेक किया जाता है क्योंकि क्षीर सागर का जल जलचर जीवो से रहित होता है बाकी लवण समुद्र, कालोदधि समुद्र, स्वयभूरमण समुद्र आदि के जल में जलचर जीव पाये जाते हैं ।

रमेशचन्द जैन

मित्ती में सव्व भूएसु

□ कन्हैयालाल लोढा

मित्रता आत्मीयता की द्योतक है । अत : मित्ति में सव्व भूयेसु का अर्थ हुआ सव प्राणियों के प्रति आत्मीयभाव, अपनापन का भाव अर्थात् सर्वात्मभाव । आत्मीयभाव में परायापन का भाव नहीं रहता । सर्वात्मभाव में कोई भी जीव पराया नहीं रहता । अतः प्राणी मात्र के प्रति सहायता का भाव सर्वात्मभाव है । सक्रिय सहायता ही सेवा है। सेवा में सर्वहितकारी भाव होता है । अतः सक्रिय सर्वात्मभाव ही सव प्राणियों के प्रति मैत्री भाव है । जहाँ सव प्राणियों की सेवा का भाव नहीं है । प्रत्युत उनके प्रति उपेक्षा या उदासी का भाव है कि वे जीव दुख पाते है तो पाते रहे अपनी वला से दुख पाते होंगे अपने कर्मों से हमें उनसे क्या मतलव ? क्या लेना-देना ? ऐसा भाव जहाँ है और जो व्यक्ति प्राप्त सामग्री, सामर्थ्य, शक्ति, योग्यता का उपयोग अपने ही सुख भोग के लिए करता है वहाँ सर्वात्मभाव नहीं, स्वार्थभाव है। जहां स्वार्थ भाव है वहां मैत्री भाव नहीं है, वहां भोग है । भोग समस्त दोपों का, दुखों का वीज है । यद्यपि सेवा का क्रियात्मक रूप अपनी शक्ति सामर्थ्य, योग्यता के अनुसार होता है अर्थात् सीमित होता है परन्तु सेवा का भावात्मक रूप सर्वात्मभाव असीम होता है। सर्वात्माभाव ही सवके प्रति आत्मीय भाव, प्रेम का भाव है । यहीं सव प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव है । मैत्रीभाव में प्रेम होता है । प्रेम का रस राग के रस को पचा जाता है । प्रेम के रस के अभाव में, राग का रस जा नहीं सकता, अतः राग नहीं मिट सकता भले ही कोई चाहे कितने ही काल तक संयम का पालन करे, तप करे । कारण कि विना रस का जीवन चल नहीं सकता अर्थात् नीरसता युक्त जीवन किसी को भी पसंद नहीं है । जीवन में किसी न किसी प्रकार का रस तो चाहिए ही । अतः जिस जीवन में प्रेम का रस नहीं होता उसमें राग का रस अवश्य पैदा होता ही है । जहाँ राग है वहाँ ही समस्त दोपों की उत्पत्ति है । जहां दोप है वहाँ दुख है । यह प्राकृतिक विधान है । इस प्रकार दुख से छूटने का उपाय दोपों का त्याग है । दोपों के त्याग का उपाय राग का त्याग है । राग के त्याग का उपाय प्रेमभाव है । प्रेमभाव ही मैत्रीभाव है । अतः जहाँ सर्व प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव है वहाँ राग का, दोपों का एवं दुख का निवारण स्वतः होता है । मैत्री भाव में मित्र का भला चाहना या हित करना इष्ट होता है । जिसमें दूसरे के हित या भले की बात नहीं सोची जाती उसे मैत्री नहीं कहा जा सकता । इसलिए मैत्री भाव को प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ स्वभाव (उपेक्षा भाव) से अलग गिनाया गया है । यदि उपेक्षा या माध्यस्थ भाव ही मैत्री होता तो उसे अलग गिनाने की आवश्यकता ही नहीं होती । मैत्री वहाँ ही संभव है, जहाँ ममता या समानता का व्यवहार है अर्थात् जहाँ भेद, भिन्नता, विषमता, एवं अलगाव (संकीर्णता) नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ भेद है, भिन्नता है, अलगाव है,

छोटे-बड़ेपन का भाव है वहा मैत्री नहीं है। मैत्री मे दो मित्रो के बीच मे अभिन्नता, अभेदता, समता, समानता, स्नेहशीलता एव प्रेम होता है । ये ही सब गुण परमात्मा के भी है । अत, जहाँ मैत्री भाव है वहाँ परमात्मा भाव है । मित्रता और समता सहवर्ती है और परमात्मा समता मे ही बसता है । दूसरे शब्दो मे मित्रता मे ही परमात्मा बसता है । इसीलिये बौद्ध धर्म मे मैत्री को "ब्रह्म-विहार" कहा है ।

जहाँ स्वार्थपरता है अर्थात् अपने लिए सुख लेने की भावना है, वहाँ मैत्री नहीं है । मैत्री वहाँ ही हो सकती है जहा मित्र के सुख के लिए अपने सुख का त्याग किया जाता है । जहाँ मित्र की प्रसन्नता मे ही अपनी प्रसन्नता का भाव होता है । अपने सुख की प्रवृत्ति ही भोग है अपने सुख (विषय सुख) का त्याग भोग नही, योग है । भोग ही बध है या कर्म बध का कारण होता है । योग ही धर्म है । अत जहाँ मित्रता है वहाँ धर्म है । मित्रता मे धर्म ओतप्रोत है । मित्रता राग को गालता है । राग वही है जहाँ सुख लेने की भावना है । जहाँ अपने सुख के त्यागने, दूसरो की खिन्नता या दुख को दूर करने, उनकी प्रसन्नता मे प्रसन्न होने का भाव है वहाँ प्रेम है । प्रेम ही प्रभु का रूप है, प्रभु का स्वभाव है । अत जहाँ प्रेम है वहीं प्रभु है, भगवान है, जिसके हृदय में प्रेम नहीं उमड़ता है उसके हृदय मे राग भाव पैदा हुए बिना नहीं रहता है । जहाँ राग है वहाँ ही बधन (कर्म-बध) है वहाँ ही ससार है । राग के त्याग से ही प्रेम की प्राप्ति सभव है । जहाँ राग का त्याग है राग का अभाव है वहाँ वीतरागता है । जहाँ वीतरागता है वहाँ परमात्मा है । अत जहाँ प्रेम है, वहाँ परमात्मा है हृदय मे प्राणी मात्र के प्रति मित्रता का भाव उमड़ता रहे, प्रेम का सागर लहराता रहे, यही परमात्मत्व की प्राप्ति है । प्रेम का रस या सुख की क्षति पूर्ति, अपूर्ति, निवृत्ति, प्रवृत्ति, तृप्ति, अतृप्ति कुछ नही होती, यह अक्षय-अव्याबाध-अनत (प्रतिक्षण नूतन) रस सुख रूप होता है । यही परमात्मत्व की प्राप्ति की पहचान है । मित्रता मे सर्व हितकारी भाव होता है स्वार्थभाव या भोग-भोक्ताभाव का अभाव होता है ।

प्राणिमात्र मे अविनाशी (परमात्मा) का दर्शन होना, प्राणी मात्र का अच्छा लगना, सुन्दर लगना, उनके प्रति प्रेम होना है जो अपना पराया पन का भेद मिटने पर ही सभव है । अपना-परायापन भेद वही गलता है जहाँ अहंभाव गलता है क्योंकि अहभाव के रहते "मैं" रहता है। जहाँ "मैं" रहता है वहाँ दूसरे से अपने परायेपन रूप अलगाव रखता है, भिन्नता व भेद रहता है । अत वहाँ आत्मीयता, मित्रता सभव नही है । "अह" के गलने पर ही, अर्थात् मे कुछ भी नहीं हूँ ऐसा "अकिंचन भाव" होने पर ही आत्मीयता या मित्रता का भाव जगता है। जहाँ अह भाव नही है, मैंपन का अभाव है वहा कामना, ममता, भोगवृत्ति, स्वार्थ्यभाव, राग, मोह, का अभाव रूप वीतरागभाव का अभाव है । अत मैत्री भाव वीतरागता का द्योतक है वीतरागता की साधना है ।

❑

श्रुतज्ञान का स्वरूप

(उसकी मतिपूर्वकता, मानसिकता एवं भाषात्मकता)

☐ डॉ. राजकुमारी जैन

'श्रुत' शब्द का अर्थ है 'सुना हुआ'। इस शाब्दिक अर्थ के अनुसार सुनकर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। जैन दार्शनिक श्रुतज्ञान को इस सीमित अर्थ में परिभाषित न कर बहुत व्यापक अर्थ में परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार श्रुतज्ञानावरणीय तथा वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होने पर मतिज्ञान द्वारा जाने गये अर्थ का अवलम्बन लेकर उससे सम्बद्ध अर्थ का ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है।[1] श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है।[2] यह मानसिक[3] तथा तर्कणा रूप होता है।[4] जिस पदार्थ को पहले चक्षुरादि इन्द्रियों तथा मन का अवलम्बन लेकर जान लिया गया है उस पदार्थ का अवलम्बन लेकर उससे सजातीय विजातीय अन्य पदार्थ को मात्र मन द्वारा परामर्श स्वभावतया (विचार पूर्वक) जानने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है।[5]

श्रुतज्ञान के धवला में दो भेद किये गये हैं–अर्थ लिंगज श्रुतज्ञान तथा शब्द लिंगज श्रुतज्ञान।[6] गोम्मटसार में इन्हें अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहा गया है। इनका अर्थ स्पष्ट करते हुए नेमीचन्द्र कहते हैं, शब्द के प्रत्यक्ष के उपरान्त वाच्य वाचक सम्बन्ध के स्मरण पूर्वक उत्पन्न होने वाला अर्थ का ज्ञान अक्षरात्मक या शब्द लिंगज श्रुतज्ञान है। जैसे 'जीव है' इन शब्दों का ज्ञान होने पर इनके वाच्य अर्थ जीव के अस्तित्व का ज्ञान अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। वायु के शीत स्पर्श के ज्ञान के उपरान्त वात प्रकृति वाले व्यक्ति को होने वाला यह ज्ञान कि 'यह मेरी प्रकृति के अनुकूल नहीं है' अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहलाता है।[6]

यहाँ हम श्रुतज्ञान की कुछ सामान्य विशेषताओं का जैन आचार्यों के शब्दों में अध्ययन करेंगे।

श्रुतज्ञान की मति पूर्वकता–

अकलंक श्रुतज्ञान की मतिपूर्वकता तथा मानसिकता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं "इन्द्रिय तथा मन का अवलम्बन लेकर पहले जाने गये पदार्थ में मन की प्रधानता से होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है।" ईहादि को मन निमित्तक होने के कारण श्रुतज्ञान नहीं कहा जा

1. गोम्मटसार जीव काण्ड पृष्ठ [illegible]
2. तत्त्वार्थ सूत्र 1/20
3. तत्त्वार्थ सूत्र 2/21
4. तत्त्वार्थ सूत्र [illegible]
5. [illegible] पृष्ठ [illegible]
6. गोम्मटसार जीव काण्ड, पृष्ठ [illegible]

सकता क्योंकि उनका विषय अवग्रहीत पदार्थ ही होता है, जबकि श्रुतज्ञान नवीनता लिये हुए होता है । एक घट को इन्द्रिय तथा मन के द्वारा यह घट हैं, इस प्रकार निश्चित करने के उपरान्त जो पहले नही जाने गये तज्जातीय तथा देशकालादि की दृष्टि से विलक्षण अनेक घटो को जानता है वह श्रुतज्ञान है अथवा एक अर्थ का अनेक प्रकार से प्ररूपण करना श्रुतज्ञान है। इन्द्रिय और मन के द्वारा जीवादि पदार्थों को जानकर उनका सत्, सख्या, क्षेत्र, अन्तर, काल, अल्पवहुत्वादि अनेक प्रकार से प्ररूपण करना श्रुतज्ञान है । अथवा श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन द्वारा गृहीत अगृहीत पर्याय वाले शब्द और उनके वाच्यार्थ जीवादि को श्रोत्रेन्द्रिय के व्यापार के विना विभिन्न नयो के द्वारा जानता है ।[1]

श्रुतज्ञान श्रुत पूर्वक भी होता है लेकिन परम्परागत रूप से वह भी मतिज्ञान पर आधारित है । अकलक कहते है कि घट शब्द को सुनकर पहले घट अर्थ का ज्ञान तथा उस श्रुत से जलधारणादि कार्यों का जो द्वितीय श्रुतज्ञान होता है वह श्रुतपूर्वक श्रुतज्ञान है । यहाँ प्रथम श्रुतज्ञान के मतिपूर्वक होने से द्वितीय श्रुतज्ञान मे भी मतिपूर्वकत्व का उपचार कर लिया जाता है, अथवा पूर्व शब्द व्यवहित पूर्व को भी कहता है तथा साक्षात् या परम्परा मति पूर्वक उत्पन्न होने वाले ज्ञान श्रुतज्ञान कहे जाते हैं ।[2]

मतिज्ञान श्रुतज्ञान का आधार है । वही पदार्थ श्रुतज्ञान का विषय हो सकता है जिसे पहले मति ज्ञान द्वारा जान लिया गया है । कभी कोई ऐसा पदार्थ श्रुतज्ञान का विषय नही हो सकता जो व्यक्ति की मतिज्ञान की सीमा से पूर्णरूपेण परे हो । इन दोनो मे कार्य कारण सम्वन्ध होता है तथा मतिज्ञान के अभाव मे, मतिज्ञान की व्यापकता के अभाव मे श्रुतज्ञान की सत्ता और व्यापकता असम्भव है । उमास्वामी कृत सूत्र 'श्रुत' मति पूर्व का अर्थ स्पष्ट करते हुए मलयगिरि कहते है कि जिसके द्वारा कार्य को प्राप्त किया जाता है, पूरित किया जाता है वह कारण उस कार्य का पूर्व कहलाता है । श्रुतज्ञान मतिज्ञान के द्वारा प्राप्त किया जाता है, पूरित किया जाता है, तथा मतिज्ञान की स्पष्टता के अभाव मे श्रुतज्ञान का उत्तरोत्तर विकास दृष्टिगोचर नही होता । जिसके उत्कर्प अपकर्प पर जिसका उत्कर्प और अपकर्प आश्रित हो वह उसका कारण कहलाता है तथा कार्य तत्पूर्वक होता है । जिस प्रकार घट मृतिका पूर्वक होता है अत उसकी उत्कृष्टता अपकृष्टता मृतिका की अपकृष्टता पर निर्भर करती है उसी प्रकार श्रुतज्ञान की उत्कृष्टता अपकृष्टता के मतिज्ञान की उत्कृष्टता अपकृष्टता पर आश्रित होने के कारण श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है ।[3]

श्रुतज्ञान की मानसिकता–

श्रुतज्ञान मात्र अन्तरिन्द्रिय-मन का अवलम्बन लेकर उत्पन्न होने वाला ज्ञान है । जैन दार्शनिको के अनुसार मतिश्रुतज्ञान का अस्तित्व प्राणी मात्र मे होता हे । मन सहित प्राणियो, विशेपत मनुष्यो मे तो इसका अस्तित्व सर्वमान्य ही है लेकिन एकेन्द्रिय द्वीन्द्रियादि मनरहित प्राणियो मे इसका अस्तित्व म्वीकार किया जाता है । उनमे इसका अस्तित्व आहार चेतना–यह पदार्थ भक्षण योग्य है, भय चेतना –यह पदार्थ घातक है, परिग्रह चेतना यह पदार्थ सग्रहणीय है

1 तत्वार्थ वार्तिक सूत्र 48-49
2 तत्वार्थ वार्तिक पृष्ठ 315
3 नन्दी सूत्र मलयगिरि वृत्ति पृष्ठ 263 64

तथा मैथुन चेतना के रूप में होता है। प्रश्न उठता है कि जब श्रुतज्ञान मनोजन्य ही होता है तो मन रहित एकेन्द्रियादि प्राणियों में इसका अस्तित्व किस प्रकार हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए वीरसेन कहते हैं कि वहाँ जाति विशेष के कारण लिग लिगी विषयक ज्ञान मानने में कोई विरोध नहीं आता।[1] मलयगिरि कहते हैं कि हेतूपदेश श्रुतज्ञान समनस्कों के ही होता है जिसके द्वारा अपने शरीर की रक्षार्थ इष्ट आहारादि में प्रवर्तन होता है तथा अनिष्ट पदार्थों में निवर्तन होता है उसे हेतूपदेश कहा गया है। यह इष्ट अनिष्ट पदार्थों में प्रवृत्ति निवृत्ति चिन्तनात्मक है और यह मन के व्यापार के अभाव में सम्भव नहीं है। अतः द्वि-इन्द्रियादि प्राणियों में मन पूर्वक हेतूपदेश श्रुतज्ञान दृष्टिगोचर होता है। एकान्द्रियादि में हेतूपदेश श्रुतज्ञान ही हो सकता है, कालिक्युपदेश श्रुतज्ञान नहीं क्योंकि वे वर्तमान कालीन पदार्थ के सम्बन्ध में ही चिन्तन कर सकते हैं, भूत भविष्यकालीन पदार्थों के सम्बन्ध मे नहीं।[2]

नन्दी सूत्र तथा अन्य ग्रन्थों में श्रुतज्ञान के अनेक भेद किये गये है जिनके विस्तार में न जाकर हम यहाँ इतना ही कहेंगे कि मन का विशेष कार्य स्मरण, शिक्षा, तर्कणा आदि है। जिन पंचेन्द्रिय प्राणियों में शिक्षित हो सकने, तर्कणा का अवलम्बन लेकर स्थितियों को परिवर्तित कर सकने की क्षमता होती है उन्हें समनस्क कहा जाता है। यह क्षमता पंचेन्द्रिय पशुओं मे न्यून मात्रा में तथा मनुष्यों में बहुत अधिक मात्रा मे पायी जाती है। चतुरिन्द्रियादि प्राणी अपनी कुछ जन्मजात प्रवृत्तियो से प्रेरित होकर कार्य करते है तथा उन्हे शिक्षित करके उनके कार्य करने की विधियों में परिवर्तन किया जाना सम्भव नही है। न ही उनमे यह सामर्थ्य है कि वे उन जन्मजात प्रवृत्तियों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में गुणदोषों के विचार पूर्वक अथवा अनुभव द्वारा अन्वेषण पूर्वक नवीन जानकारी प्राप्त कर सकें और अपने कार्य करने के ढंग को परिवर्तित कर सकें। इतना होते हुए भी उनमें न्यूनाधिक मात्रा में तर्कणा शक्ति होती है जिसकी सिद्धि बाह्य पदार्थ के इन्द्रिय प्रत्यक्ष पूर्वक उसे प्राप्त करने हेतु प्रवृत्ति, घातक स्थिति के निर्मित होने पर रक्षार्थ प्रवृत्ति आदि से होती है। इन क्रियाओं का सद्भाव तर्कणापूर्वक ही हो सकता है जो आत्मा में नोइन्द्रियज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम, भले ही वह बहुत अल्प मात्रा में हो, होने पर ही सम्भव है।

श्रुतज्ञान और भाषा–

श्रुतज्ञान मानसिक चिन्तन रूप होता है तथा इसकी उत्पत्ति शब्द योजना पूर्वक ही होती है। मति, अवधि, मनः पर्यय तथा केवलज्ञान शब्दयोजना रहित ज्ञान है। यह सम्भव है कि इस विषय का इन्द्रिय से प्रत्यक्ष करते समय उसके वाचक शब्द का भी प्रयोग करें लेकिन वहाँ विषय बोध की उत्पत्ति में शब्द प्रयोग का होना न होना कोई महत्व नहीं रखता, जबकि श्रुतज्ञान का विषय शब्दात्मक चिन्तन द्वारा ही ज्ञात होता है। अकलंक कहते हैं, मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान शब्द योजना से पूर्व मतिज्ञान के अन्तर्गत आते हैं तथा शब्दयोजना के पश्चात् वे श्रुतज्ञान कहलाते हैं।[3] अकलंक की यह मान्यता उचित प्रतीत नहीं

1 धवला पुस्तक 13 पृ 210
2 नन्दी सूत्र : मलयगिरि टीका पृ. [illegible]
3 लघीयस्त्रय, [illegible] 10

होती । किसी इन्द्रिय से पदार्थ का ज्ञान होते समय उसके वाचक शब्द के प्रयोग मात्र से उस ज्ञान को श्रुत ज्ञान नही कहा जा सकता । त्वचा से शीतल पवन के स्पर्श पूर्वक उसका ज्ञान होते समय "यह पवन शीतल है" इस शब्दात्मक निर्णय मात्र से पवन की शीतलता का ज्ञान श्रुतज्ञान नही कहा जा सकता क्योंकि पवन की शीतलता मन मे शब्द प्रयोग पूर्वक ज्ञात न होकर त्वचा द्वारा ज्ञात हो रही है । इसलिये मन द्वारा इसके प्रति शब्द प्रयोग किये जाने अथवा न किये जाने दोनो ही स्थितियो मे यह ज्ञान मतिज्ञान है । वास्तव मे 'श्रुतज्ञान ही शब्दयोजना सहित होता है तथा शेष ज्ञान शब्द योजना रहित होते है इस कथन का मात्र यही आशय हो सकता है कि शब्दयोजना श्रुतज्ञान की अनिवार्य विशेषता है । इसके विपरीत शेष ज्ञानो का लक्षण विषय के साक्षात्कार से उत्पन्न होना है तथा शब्द योजना इसकी उत्पत्ति मे कारण नही है ।

विद्यानन्दि अकलक के उपर्युक्त कथन को उद्धृत करते हुए कहते है, "अकलक देव के द्वारा जो यह कहा गया है कि मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध पर्यन्त समस्त ज्ञान शब्दयोजना से पूर्व मतिज्ञान तथा शब्द योजना के पश्चात श्रुतज्ञान कहलाते हैं, यहाँ यह विचार करना है कि मतिज्ञान से अनुमान पर्यन्त समस्त ज्ञान ही शब्दयोजना पूर्वक श्रुत होता है अथवा श्रुतज्ञान ही शब्दयोजना पूर्वक होता है । यदि यह नियम स्वीकार किया जाय कि शब्दयोजना पूर्वक होने वाला ज्ञान ही श्रुतज्ञान कहला सकेगा तो चक्षुरादि मतिज्ञान पूर्वक होने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान नही कहे जा सकने के कारण सिद्धान्त विरोध होगा ।[1]

आचार्य विद्यानन्दि की उपर्युक्त मान्यता भी आपत्तिजनक है । चक्षुरादि मतिज्ञानपूर्वक होने वाले श्रुतज्ञान को शब्दयोजना रहित नही कहा जा सकता । यद्यपि चक्षुरादिमतिज्ञान शब्द ससर्ग रहित होते है तथापि उनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान शब्दयोजना सहित ही होता है, क्योंकि वह तर्कणा रूप होता है तथा तर्कणा या चिन्तन शब्दात्मक ही हो सकता है । समस्त श्रुतज्ञान, भले ही शब्द लिगज हो अथवा अर्थलिगज, शब्दात्मक ही होता है । स्वय विद्यानन्दि भी आगे समस्त श्रुतज्ञान को शब्दयोजना पूर्वक ही स्वीकार करते है । वे कहते है, 'समस्त श्रुतज्ञान शब्दयोजना सहित ही होता है । एकेन्द्रिय जीवो मे भी लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान होता है वह द्रव्यवाक् रूप न होते हुए भी भाववाकरूप होता है ।[2] मलयगिरि कहते है कि एकेन्द्रिय जीवो मे श्रोत्रेन्द्रिय का अभाव होने के कारण उनमे परोपदेश निमित्तक श्रुतज्ञान सम्भव नही है । उनमे लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान होता है जो आहारादि सज्ञा के रूप मे होता है । यह सज्ञा अभिलाषा रूप 'मुझे यह प्राप्त हो' भाषा का अवलम्बन किये हुए ही होता है । अत, उनमे भी अव्यक्त लब्ध्यक्षर की योग्यता है जो लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान को भी अक्षरात्मक सिद्ध करती है ।[3]

व्याख्याता दर्शनशास्त्र
राजकीय महाविद्यालय
अजमेर (राजस्थान)

❑

1 तत्वार्थ श्लोक वार्तिक पृष्ठ 239 40
2 वही, पृष्ठ 241
3 नन्दी सूत्र मलयगिरी टीका पृष्ठ 378

द्वितीय खण्ड

शाकाहार, संयम और ध्यान

1.	धवला में आत्म-ध्यान का विषय	प्रो. लक्ष्मीचन्द्र जैन	1
2.	ध्यानी के प्रभामण्डल का प्रभाव	उ. कनकनन्दी	5
3.	ध्यान का स्वरूप, प्रकार और फल (कुमार कवि कृत आत्म-प्रबोध से अनूदित अंश)	ज्ञानचन्द विल्टीवाला	11
4.	चतुर्थ गुणस्थान में तप और चरित्र	प्रकाश हितैषी शास्त्री	18
5.	शास्त्रों में संयम निरूपण में शैलीभेद	निहालचन्द पाण्ड्या	20
6.	पोरफिरी का ग्रन्थ : 'मांसाहार से निवृत्ति' एक परिचय	ज्ञानचन्द विल्टीवाला	24

धवला में आत्म-ध्यान का विषय

☐ प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द्र जैन

सम्पादक

जैन विद्या के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान श्री लक्ष्मीचन्द जी जैन ने आचार्य वीरसेन की धवला टीका से ध्यान विषयक प्रतिपादन को हमारे समझने, उस पर चिन्तन कर ध्यान के सम्बन्ध में अपनी गलत फहमियाँ दूर करने और अपने मे धर्म ध्यान की पात्रता विकसित कर जीवन को कृतार्थ कर सकने हेतु प्रस्तुत किया है। इस के आगे ही कुमार कवि के आत्म प्रबोध ग्रन्थ से दिया गया अनूदित अंश ध्यान के विषय के अन्य पक्षो पर प्रकाश डालकर विषय को और समग्र करता है।

षट्खण्डागम के स्पर्श-कर्म-प्रकृति अनुयोग द्वार खंड ५, भाग १,२,३, (पुस्तक १३) में ध्यान के विषय के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन है। उसका सारांश में विवेचन लाभ प्रद होगा। "उत्तम संहनन वाले का एकाग्र होकर चिन्ता का निरोध ध्यान नामक तप है।"

जो परिणाम की स्थिरता होती है उसका नाम ध्यान है और जो चित्त का एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में चलायमान होना है वह या तो भावना है या अनुप्रेक्षा है या चिन्ता है।

ध्यान के विषय मे चार अधिकार है—ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यान फल (१) जो उत्तम संहनन वाला, निसर्ग से बलशाली, निसर्ग से शूर, चौदह पूर्वों को धारण करने वाला या दस, नौ पूर्वों को धारण करने वाला होता है वह ध्याता है, क्योंकि इतना ज्ञान हुए बिना, जिसने नौ पदार्थों को भले प्रकार नहीं जाना है, उसके ध्यान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। (धवला पृ.६४)।

यदि कहा जाये कि स्तोक द्रव्य श्रुत से भी पदार्थों को पूरी तरह जानकर शिवभूति आदि बीजबुद्धि मुनियों के ध्यान नहीं मानने से मोक्ष का अभाव प्राप्त होता है, तो इस पर यह कहना है कि स्तोक ज्ञान से यदि ध्यान होता है तो वह क्षपक श्रेणि और उपशम श्रेणि के अयोग्य धर्म ध्यान ही होता है। परन्तु चौदह, दस और नौ पूर्वों के धारी तो धर्म और शुक्ल दोनों ही ध्यानों के स्वामी होते हैं, क्योंकि ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं आता। (धवला पृ.६५)

(२) वह (ध्याता) समदृष्टि होता है । कारण कि नी पदार्थ विपयक रुचि, प्रतीति और श्रद्धाके विना ध्यान की प्राप्ति सम्भव नही है, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति के मुख्य कारण संवेग और निर्वेद अन्यत्र नही हो सकते ।

(३) वह (ध्याता) समस्त बहिरग और अन्तरग परिग्रह का त्यागी होता है क्योंकि जो क्षेत्र, वस्तु, धन, धान्य, चतुष्पद, यान, शयन, आसन, शिष्य, कुल, गण और सघ के कारण उत्पन्न हुए मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वद, पुरूष वेद, और नपुसक वेद आदि अन्तरगपरिग्रह की काक्षा से वेष्टित है उसके शुभ ध्यान नही दन सकता । (धवल पृ ६५)

(४) सव देश, सव काल और सव अवस्थाओं मे विद्यमान मुनि अनेक विध पापो का क्षय करके उत्तम केवल ज्ञान आदि को प्राप्त हुए । (धवल पृ ६६)

(५) परन्तु जिन्होंने अपने योगो को स्थिर कर लिया है और जिनका मन ध्यान मे निश्चल है ऐसे मुनियो के लिये मनुष्यो से व्याप्त ग्राम मे और शून्य जगल मे कोई अन्तर नहीं ह ।

(६) ध्यान के समय मे देश, काल और चेष्टा का भी कोई नियम नहीं है । तत्वत जिस तरह योगो का समाधान हो उस तरह प्रवृत्ति करनी चाहिए । (धवल पृ ६७)

(७) वह (ध्याता) आलम्वन सहित होता है । वाचना, पृच्छना, परिवर्तना अनुप्रेक्षा, ओर सामायिक, आदि सव आवश्यक कार्य, ये सब ध्यान के आलम्वन है ।

(८) जिसने पहले उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है वह पुरूप ही भावनाओं द्वारा ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है और वे भावनाए ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और वैराग्य से उत्पन्न हाती है । जिसने ज्ञान का निरन्तर अभ्यास किया है वह पुरूप ही मनोनिग्रह ओर विशुद्धि को प्राप्त होता है, क्योंकि जिसने ज्ञान गुण के वल से सारभूत वस्तु को जान लिया है वही निश्चय मति हो सकता है । जो शका आदि शल्यो से रहित है और जो प्रशम तथा स्थैर्य आदि गुणगणो से उपचित है वही दर्शन विशुद्धि के वल से ध्यान मे असमूढ मन वाला होता है । चारित्र भावना के वल से जो ध्यान मे लीन है उमके नूतन कर्मो का ग्रहण नही होता, पुराने कर्मों की निर्जरा होती है, और शुभ कर्मो का आस्रव होता है । जिसने जगत् के स्वभाव को जान लिया है जो नि सग है निर्भय है, सव प्रकार की आशाओं से रहित है और वेराग्य की भावना से जिसका मन ओत प्रात है, वही ध्यान मे निश्चल होता है । (धवल पृ ६८)

(९) वह (ध्याता) विपयो मे दृष्टि को हटाकार ध्येय मे चित्त को लगान वाला होता है, क्योंकि जिसकी दृष्टि विपया म फैलती है उसके स्थिरता नही वन सकती ।

(१०) ध्येय कान है ? जा वीतराग है, केवल ज्ञान के द्वारा जिसने त्रिकाल गोचर अनन्त पर्याया से उपचित छह द्रव्या का जान लिया है, नो केवल लब्धि आदि, अनन्त गुणो के साथ जो आरम्भ हुए दिव्य देहको धारण करता है, जो अजर है, अमर है, अयोनिसभव है, अदग्ध है, अछेद्य है, अव्यक्त है, निरजन है, निरामय है, अनवद्य है, समस्त क्लेशो रहित है, ताप गुण मे रहित हाकर भी सेवक जना के लिये कल्पवृक्ष के समान है, रोप से रहित होकर भी आत्म धर्म स परान्मुख हुए जीवा क लिये यम के समान है, जिसके हाय पैर सुखामृत सागर

में पूरी तरह से बूड़े हुए है, नित्य है, निरायुध होने से जिसने "उसका कोई प्रतिपक्षी नही है" ऐसा जताया है, समस्त लक्षणों से परिपूर्ण है अतएव दर्पण में संक्रान्त हुई मनुष्य की छाया के समान होकर भी समस्त मनुष्यों के प्रभाव से परे है, अव्यक्त है, अक्षय है। (धवल पृ. ६९) जिन जीवों ने अपने स्वरूप में चित्त लगाया है उनके समस्त पापों का नाश करने वाले ऐसे जिन देव ध्यान करने योग्य हैं। अथवा जिन द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ ध्यान करने योग्य है। नौ पदार्थ रागादिक के निरोध करने में निमित्त कारण हैं, इसलिये उन्हें कर्म क्षय का निमित्त मानने में कोई विरोध नहीं आता। यह लोक ध्यान के आलम्वनों से भरा हुआ है। ध्यान में मन लगाने वाला क्षपक मन से जिस-जिस वस्तु को देखता है वह-वह वस्तु ध्यान का आलम्वन होती है। वारह अनुप्रेक्षायें, उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी पर आरोहण विधि, तेईस वर्गणाएं, पांच परिवर्तन, स्थिति, अनुभाग, प्रकृति और प्रदेश आदि सव ध्यान करने योग्य अर्थात् ध्येय होते हैं। (धवल पृ.७०)

वहुत कहने से क्या लाभ, यह जितना जीवादि पदार्थो का विस्तार कहा है, उस सवसे युक्त और सर्वनय समूहमय समय सद्भाव का ध्यान करें। प्रश्न है कि यदि समस्त समय सद्भाव धर्म्यध्यान का ही विपय है तो शुक्ल ध्यान का कोई विपय शेप नही रहता ? यह कोई दोप नहीं है, क्योंकि दोनों ही ध्यानों में विपय की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। यदि ऐसा है तो दोनों ही ध्यानों में एकत्व (अभेद) प्राप्त होता है, क्योंकि दंशमशक, सिंह, भेड़िया, व्याघ्र, श्वापद और मल्ल (रीछ) द्वारा भक्षण किया गया भी, वसूला द्वारा छीला गया भी, करोतो द्वारा फाड़ा गया भी, दावानल के शिखा-मुख द्वारा ग्रसा गया भी, शीत वात और आतप द्वारा वाधा गया भी, और सैकड़ों करोड़ अप्सराओं द्वारा लालित किया गया भी जो जिस अवस्था में ध्येय से चलायमान नहीं होता वह जीव की अवस्था ध्यान कहलाती है। इस प्रकार का यह स्थिर भाव दोनों ध्यानों में समान है, अन्यथा ध्यान रूप परिणाम की उत्पत्ति नही हो सकती ? इसका समाधान यह है कि यह वात सत्य है कि इन दोनों प्रकार के स्वरूपो की अपेक्षा दोनों ही ध्यानों में कोई भेद नही है। किन्तु इतनी विशेपता है कि धर्म्यध्यान एक वस्तु में स्तोक काल तक रहता है, क्योंकि कपाय सहित परिणाम का गर्भ गृह के भीतर स्थित दीपक के समान चिरकाल तक अवस्थान नही वन सकता। परन्तु शुक्ल ध्यान के एक पदार्थ मे स्थित रहने का काल धर्मध्यान के अवस्थान काल मे संख्यात गुण है, क्योंकि वीतराग परिणाम मणिशिखा के समान वहुत काल के द्वारा भी चलायमान नहीं होता। (धवल पृ ७८,७७)

अक्षपक जीवों को देव पर्याय सम्वन्धी विपुलसुख मिलना धर्मध्यान का फल है, और गुणश्रेणी में कर्मो की निर्जरा होना भी उसका फल है, तथा क्षपक जीवों में तो असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्म प्रदेशों की निर्जरा होना और शुभ कर्मों के उत्कृष्ट अनुभाग का होना उसका फल है।। (धवल पृ.७७)

क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति, ये जिन मत में ध्यान के प्रधान आलम्वन कहे गये हैं। जिन आलम्वनों का सहारा लेकर साधु शुक्ल ध्यान पर आरोहण करते हैं।

अब हम केवल पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान का वर्णन [illegible] [illegible]

चौदह, दस और नौ पूर्वो का धारी, प्रशस्त तीन सहनन वाला, कषाय कलक से पार को प्राप्त हुआ और तीन योगो मे से किसी एक योग मे विद्यमान ऐसा उपशान्त-कषाय वीतराग-छद्मस्थ जीव बहुत नय रूपी वन मे लीन हुए ऐसे एक द्रव्य या गुण पर्याय को श्रुत रूपी रवि किरण के प्रकाश के बल से ध्याता है। इस प्रकार उसी पदार्थ को अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्याता है। इसके बाद अर्थान्तर पर नियम से सक्रमित होता है। अथवा उसी अर्थ के गुण या पर्याय पर सक्रमित होता है और पूर्व योग से स्यात् योगान्तर पर सक्रमित होता है। इस तरह एक अर्थ, अर्थान्तर, गुण, गुणान्तर और पर्याय, पर्यायान्तर को नीचे ऊपर स्थापित करके फिर तीन योगो को एक पक्ति मे स्थापित करके द्विसयोग और त्रिसयोग की अपेक्षा यहाँ पृथक्त्व वितर्क विचार ध्यान के ४२ भग उत्पन्न करना चाहिये। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक शुक्ल लेश्या वाला उपशान्त कषाय जीव छह द्रव्य और नौ पदार्थ विषयक पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान को अन्तमुहूर्त काल तक ध्याता है। अर्थ से अर्थान्तर का सक्रम होने पर भी ध्यान का विनाश नही होता, क्योंकि इससे चिन्तान्तर मे गमन नही होता। इस प्रकार इस ध्यान के फलस्वरूप सवर, निर्जरा, और अमर सुख प्राप्त होता है, क्योंकि इससे मुक्ति की प्राप्ति नही होती। (धवला पृ १३, पृ ७८, ७९)

ध्यान विषय मुख्य ग्रन्थ सूची

१ तत्त्वानुशासन, श्री रामसेनाचाय प्रणीत, दिल्ली, १९६३

२ ध्यानशतक, श्री सेवामदिर, दिल्ली, १९७६

३ विद्यानुशासन

४ मत्रसार समुच्चय

५ ज्ञानार्णव, श्री आचार्य शुभचन्द्रकृत, अगास, १९८१

६ आत्म प्रबोध,

७ ध्यानस्तव, श्री भास्करनन्दि विरचित, दिल्ली, १९७६

८ षट्खण्डागम, धवल टीका पुस्तक १३, भेलसा १९५५

९ कुन्दकुन्दभारती, फलटन, १९७०

मानक निदेशक

आचार्य श्री विद्यासागर शोध सस्थान

५५४ सर्राफा, जबलपुर

□

"ध्यानी के प्रभामण्डल का प्रभाव"

☐ उपाध्याय कनकनन्दी

प्रायः प्रत्येक धर्म के महापुरुषों के चित्र के पीछे एक प्रभामण्डल का चित्रण किया हुआ पाया जाता है। जैन धर्म में वर्णन पाया जाता है कि तीर्थंकर के अष्ट प्रातिहार्यों में से एक प्रातिहार्य भामण्डल प्रातिहार्य है। भामण्डल का वर्णन प्राचीन जैन शास्त्रों में निम्न प्रकार किया गया है—

प्रभया परितो जिनदेहभुवा जगती सकला समवादिवृतैः ।
रुरुचे ससुरासुरमर्त्यजनाः किमिवादभुतमीदृशि धाम्नि विभो : ।। {६५}

सुर, असुर और मनुष्यों से भरी हुई वह समवशरण की समस्त भूमि जिनेन्द्र भगवान् के शरीर से उत्पन्न हुई तथा चारों ओर फैली हुई प्रभा अर्थात् भामण्डल से वहुत ही सुशोभित हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि भगवान् के ऐसे तेज में आश्चर्य ही क्या है ?

तरुणार्करुचि नु तिरोदधती सुरकोटिमहांसि नु निर्धुनती ।
जगदेकहोद यमासृजति प्रथमे स्म तदा जिनदेहरुचिः {६६}

उस समय वह जिनेन्द्र भगवान के शरीर की प्रभा मध्यान्ह के सूर्य की प्रभा को तिरोहित करती हुई— अपने प्रकाश में उसका प्रकाश छिपाती हुई, करोड़ों देवों के तेज को दूर हटाती हुई, और लोक में भगवान का वड़ा भारी ऐश्वर्य प्रकट करती हुई चारों ओर फैल रही थी।

जिनदेहरूचावनृताब्धिमुर्चा सुरदानवमर्त्यजना ददृशः ।
स्वभावान्तरसप्त कमात्रमुदो जगतो वहु मंगलदर्पणके । {६७}

अमृत के समुद्र के समान निर्मल और जगत् को अनेक मंगल करने वाले दर्पण के समान भगवान के शरीर की उस प्रभा (प्रभामण्डल) में सुर, असुर और मनुष्य लोग प्रसन्न होकर अपने सात-सात भव देखते थे। "चन्द्रमा" शीघ्र ही भगवान् के छत्रत्रय की अवस्था को प्राप्त हो गया है यह देखकर ही मानो अतिशय देदीप्यमान सूर्य भगवान् के शरीर की प्रभा के वहाने पुराण कवि भगवान वृषभदेव की सेवा करने लगा था। भगवान् का छत्रत्रय चन्द्रमा के समान था और प्रभामण्डल सूर्य के समान था।

भव-सत्त-दंसण हेदुं, दरिसण-मेत्तेण सयल-लोयस्स ।
भामण्डलं जिणाणं, रवि-कोडि-समप्पहं जयई । {६७} ति.प. [illegible]

जो दर्शन मात्र से ही सब लोगों को अपने-अपने सात भव देखने में निमित्त है करोड़ों सूर्यों के समान उज्ज्वल है, तीर्थंकरों का ऐसा वह प्रभामण्डल जयवन्त होता है।

ध्यान के माध्यम से शरीर, मन और आत्मा मे विलक्षण क्रान्तिकारी परिवर्तन होता है। पाप-कर्म शिथिल, क्षीण होते जाते है और पुण्य कर्म दृढ़ प्रभावशाली होते जाते हैं । इतना ही नही आधुनिक मनोवैज्ञानिको ने सिद्ध किया है कि ध्यान अवस्था मे कुछ विशेष मस्तिष्क तरग निकलती हैं जिससे आभामण्डल के अन्दर बड़े-बड़े प्राण घातक अस्त्र शस्त्र, हिसक पशु, रोगाणु आदि प्रवेश नही करते है । इस प्रभामण्डल से प्रभावित होकर जन्मजात हिंसक पशु अपने हिसा स्वभाव का त्याग कर नम्र, प्रेम भाव से उस मुनिराज के चरण सानिध्य मे रहते हैं । इसस वनस्पति, प्रकृति आदि भी प्रभावित होती है जिसके कारण पेड़-पौधो म अधिक फल पुष्प आना, एक ही ऋतु मे सम्पूर्ण ऋतुओं के फल-पुष्प आना, उस क्षेत्र के जीवो का निरोग होना आदि अलौकिक कार्य होते जाते हैं । इसका वर्णन, उदाहरण प्राय जैन, बौद्ध, हिन्दू सिक्ख, मुस्लिम सभी धर्मो मे पाया जाता है । वर्तमान वैज्ञानिक लोगो ने जो ध्यान के वारे मे विशेष शोध परक तथ्य समाज के सामने रखे है उनका कुछ प्रस्तुतीकरण नीचे कर रहा हूँ—

मस्तिष्क तरग अभी तक चार तरह की मस्तिष्क तरगे पाई गयी है । अल्फा, वीटा, थीटा और डेल्टा ।

अल्फा तरग तव उठती ह जव मतिष्क शान्त निष्क्रिय तटस्थ और तनाव रहित होता है । यह प्रति सेकेण्ड 8 से 13 आवृत्ति करती हैं । ध्यानावस्थित योगियो पर परीक्षण करने पर पाया गया कि उनके मस्तिष्क की यही अल्फा तरग वाली स्थिति होती है । साधारण आदमी मे भी जव यह तरग उठती है तो एक तरह की शाति और आनन्द का अनुभव कराती हैं ।

वीटा तरग प्रति सेकेण्ड 14 या उससे अधिक आवृत्ति का उदय तव होता है जव आदमी दत्त-चित्त होकर किसी काम मे मशगूल होता हे जैसे जोड़ना, हिसाव लगाना या कोई गुत्थी सुलझाना । यह सक्रिय दिमाग की स्थिति है ।

थीटा तरग प्रति सैकेण्ड 4 से 6 आवृत्ति करती है और नीद से पूर्व या अर्द्ध निद्रित अवस्था मे उठती ह ।

डेल्टा तरग प्रति सैकेण्ड 1 से 6 आवृत्ति करती है और नीद की अवस्था मे उठती है । जाग्रत अवस्था म यह शायद ही कभी उठती हो ।

जाग्रत अवस्था मे अक्सर अल्फा और वीटा तरगे ही उठती हैं । यह वड़ी अनूठी वात है कि किमी एक क्षण मे ही मस्तिष्क के एक हिस्से मे अल्फा तरग उठ रही है और दूसरे हिस्से मे वीटा तरग । कुछ व्यक्तियो मे खासकर अन्तर्मुखी व्यक्तियो मे अल्फा तरगे पैदा होती है । दूसरी तरफ कुछ ऐसे लोग भी होते है जो कोशिश करने पर भी अल्फा तरग पैदा नही कर पाते । कुछ योगियो की मस्तिष्क तरगे शुरू मे अल्फा और वाद मे वीटा मे वदली हुई पायी गई । कुछ तनावरहित व्यक्तियो मे थीटा तरगे अधिक पाई गयी जो निद्रा से पूर्व अलसाई स्थिति है । कुछ औरो मे पाया गया कि जव वे ध्यान की गहराई मे उतरे तो अचेतन मे दवी हुई यादे सजग हो गई ।

ध्यानी का प्रभाव हिंसक पशु आदि के ऊपर कैसे पड़ता है, उसका वर्णन ध्यान शास्त्र "ज्ञानार्णव"में जैनाचार्य शुभचन्द्र ने निम्न प्रकार से किया है—

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा वद्धवैराः परस्परम् ।
अपी स्वार्थ प्रवृतस्य मुनेः साम्यप्रभावतः । 20 ।

आगे इसी को स्पष्ट किया जाता है—अपने आत्मप्रयोजन की सिद्धि में प्रवृत्त हुए मुनि के साम्यभाव के प्रभाव से परस्पर में वैरभाव को रखनेवाले दुष्ट जीव शान्ति को प्राप्त होते हैं—जातिगत दुष्ट स्वभाव को छोड़ देते हैं ।

भजन्ति जन्तवों मैत्र्मन्योन्यं त्यक्तमत्सराः ।
समत्वालम्बिनां प्राप्य पादपद्माचिर्ता क्षितिम् ।। {२१}

साम्यभाव का आश्रय लेने वाले मुनियों के चरण-कमलों से पूजित (अधिष्ठित) पृथ्वी को पाकर प्राणी परस्पर में मत्सरता (द्वेष व ईर्ष्या) छोड़कर मित्रता को प्राप्त होते है ।

शाम्यन्ति योगिभिः क्रूरा जन्तवों नेति शङ् क्यते ।
दावदीप्तामिवारण्यं यथा वृष्टैवर्लाहकैः । {२२}

जिस प्रकार वर्षा को प्राप्त हुए मेघों के प्रभाव से दावानल से प्रज्ञवलित वन शान्त हो जाता है उसी प्रकार साम्यभाव को प्राप्त हुए योगियों के प्रभाव से दुष्ट जीव अपनी क्रूरता को छोड़कर शान्त हो जाते हैं, इसमें कोई शंका नही है ।

भवन्त्यतिप्रसन्नानि कश्मलान्यपि देहिनाम् ।
चेतांसि योगिसंसर्गेऽ गस्त्ययोगे जलानिव । {२३}

जिस प्रकार अगस्त्य तारा के संयोग से बरसात का मलिन जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार योगियों के संसर्ग से प्राणियों के मलिन मन भी अतिशय निर्मल हो जाते हैं ।

क्षुभ्यन्ति ग्राहयक्षकिंन्नर नरास्तुष्यन्ति नाकेश्वरा ।
मुंचन्ति द्विपदैत्यसिहशरभव्यालदयः क्रूरताम् ।
रूग्वैरप्रतिवन्धतिभ्रमभयभ्रष्टं जगज्ञायते,
स्याद्योगीन्द्र समत्वसाध्यमथवा कि कि न सद्यो भुवि । {२१}

साम्यभाव के धारक योगियों के प्रभाव से शनि आदि दुष्ट ग्रह, यक्ष, किन्नर और मनुष्य क्षोभ को प्राप्त होते हैं, वैमानिक इन्द्र संतुष्ट होते है, हाथी, दैत्य, सिंह, अष्टापद और सर्प अपनी दुष्टता को छोड़ देते हैं तथा लोक रोग विघ्नबाधा, विभ्रम (भ्रान्ति) और भय से रहित हो जाता है । अथवा ठीक ही है—लोक में योगीन्द्रों के समताभाव से शीघ्र ही क्या-क्या सिद्ध नहीं किया जाता है ? उसके प्रभाव से सब प्रकार का अभीष्ट सिद्ध होता है ।

चन्द्रः सान्द्रैर्विकिरति सुधामंशुभिर्जीवलोके,
भास्वानुग्रैः किरणपटलैरुच्छिनत्त्यन्धकारम् ।
धात्री धत्ते भुवनमखिलं विश्वमेतच्च वायु-
र्यद्वत्साम्यात्तदनुगतं यतीन्द्रः । {२५}

जिस प्रकार चन्द्रमा स्वभाव से अपनी सघन किरणों के द्वारा लोक में अमृत की वर्षा करता है, जिस प्रकार सूर्य स्वभाव से अपनी तीक्ष्ण किरण समूहों के द्वारा अन्धकार को

नष्ट करता है, जिस प्रकार पृथ्वी स्वभाव से समस्त लोक को धारण करती है तथा जिस प्रकार वायु (वातवलय) स्वभाव से इस विश्व को धारण करती है, उसी प्रकार मुनीन्द्र स्वभाव मे प्राणी समूह को शान्त किया करते हैं।

सारङ्गी सिहशाव स्पृशति सुतधिया नदिनी व्याघ्रपोत,
मार्जारी हँसवाल प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम् ।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तव्ताऽन्ये त्यजन्ति,
श्रित्वा साम्यैकरूढ प्रशमितकलुष योगिन क्षीणमोह ॥ {२६}

जिस योगी ने मोह से रहित होकर पाप को शान्त कर दिया है और असाधारण साम्यभाव को प्राप्त कर लिया है उसका आश्रय पाकर मृगी सिह के बच्चे को पुत्र के समान स्नेह से स्पर्श करती है, गाय व्याघ्र के बच्चे से बछड़े समान प्रेम करती है, बिल्ली हँस के बच्चे से स्नेह करती है तथा मयूरी स्नेह के वशीभूत होकर सर्प का स्पर्श करती है। इसी प्रकार अन्य प्राणी भी उक्त योगी के प्रभाव से जन्म से उत्पन्न हुए भी वैरभाव को भी छोड़ देते हैं।

अव वैज्ञानिक तेजोवलय के स्पेक्ट्रम दिखाई देने वाले रगो के आधार पर यह जान सकते हैं कि अमुक व्यक्ति का व्यक्तित्व स्तर क्या है उसके गुण व स्वभाव मे किस प्रकार की कमी-वेशी है ? इतना ही नही, उसकी प्रकृति और शारीरिक, मानसिक स्थिति का भी बहुत हद तक पता लगाया जा सकता है ? इस निदान पद्धति मे चिकित्सक अपने रोगी की स्थिति का विश्लेषण अपनी इन्द्रियो के सहारे ही कर लेते है, जबकि सामान्यतया पेथॉलॉजी के विभिन्न परीक्षणो एव इलेक्ट्रोफिजियॉलॉजी की जाँच के आधार पर अनेक प्रकार के जटिल यन्त्रो की सहायता से वस्तु स्थिति का पता लगाया जाता है।

स्थूल रूप से वाष्प ऊर्जा को मापे जाने के प्रयास थर्मोग्राफी से हुए हैं। वैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि अन्दर की सक्रिय ऊर्जा रक्त प्रवाह के माध्यम से बाहर अभिसरित होती है व इस प्रकार पूरे शरीर का मैपिग (मापन) किया जा सकना सभव है। एक विचित्र बात इस अनुसधान से सामने आयी है कि जो अग व्याधि-ग्रस्त रहते हैं या आगे चलकर जिनके प्रभावित होने की सभावना रहती है, काफी पहले से ऊष्मा परिवर्तन बताने लगते है। इन्हे "कोल्ड' एव 'हॉट" क्षेत्र कहते है। जहाँ/कैसर होता या होने की सभावना रहती है, वे स्थान आसपास के हल्के आसमानी या ग्रे रग की तुलना मे लाल या काले रग की ऊष्मा फेकते हैं। एक औसत वजन का क्षेत्रफल (175 वर्गमीटर) वाले शरीर से 875 वॉट शक्ति की ऊर्जा उत्सर्जित होती ह। इस प्रकार थर्मोग्राफी के माध्यम से सारे शरीर से निकलने वाला रेडिएशन (विकिरण) मापा जाता है जो कि आँखो से न देखी जा सकने वाली इन्फ्रारेड से भी परे तरगो के स्तर का होता है।

थर्मोग्राफी से आगे चले तो किर्लियन फोटोग्राफी एव आर्गोन एनर्जी मापे जाने वाले यन्त्र की बारी आती है, जो तथा-कथित वाष्प प्रकाश का मापन करते है। किर्लियन फाटोग्राफी बहुत दिनो तक विवाद का विषय बनी रही, पर ड्यूक विश्वविद्यालय के इलेक्ट्रीकल इजीनियरिग विभाग के लैरीवर्टन, विलियम जैम्स एव ब्रेड स्टीवेन्स ने 19 वे पैरासाइकोलॉजीकल एसोसिएशन कन्वेशन, न्यूयार्क मे यह प्रमाणित किया है कि जो स्पेक्ट्रम ओरा के रूप मे रिकॉर्ड होता है, उसे विशेष फाटो मल्टीप्लायर ट्यूब्स एव ऑप्टीकल फिल्टर्स द्वारा देखा जा सकता है

एवं यह लाल वर्ण क्रम के 660 नैनोमीटर रैंज में अंकित होता है। इसी तथ्य का डॉ. थल्मा मॉस (यू.सी.एल.ए. न्यूरोसाइकिएट्री संस्थान) ने भी अपने प्रयोगों से सत्यापन किया है कि शरीर से नीले ऑयन डॉट्स निकलतें हैं, जो उत्सर्जित किरणों के माध्यम से शरीर के आस-पास एक ऊर्जा मण्डल वनाते है।

"ध्यानी के प्रभाव से 500 शिकारी कुत्ते प्रभावित"

कदाचित् महाराज श्रेणिक को शिकार खेलने का कौतुहल उपजा। वे एक विशाल सेना के साथ शीघ्र ही वन की ओर चल पड़े। जिस वन में महाराज गये उसी वन में महामुनि यशोधर खड्गासन से ध्यान रूढ़ थे। मुनि यशोधर परमज्ञानी आत्मस्वरूप के भले प्रकार जानकार एवं परमध्यानी थे। उनकी आत्मा सदा शुभ योग की ओर झुकी रहती थी। अशुभ योग उनके पास तक भी नहीं फटकने पाता था। उनका मन सर्वथा वश में था, मित्र, शत्रुओं पर उनकी दृष्टि वरावर थी, त्रैकालिक योग के धारक थे, समस्त मुनियों में उत्तम थे, अनन्त अक्षय गुणों के भण्डार थे, असंख्यात पर्यायों के युगपत् जानकार थे, देदीप्यमान निर्मल ज्ञान से शोभित थे, भव्य जीवों के उद्धारक और उन्हें उत्तम उपदेश के दाता थे। स्यादस्ति, स्यान्नास्ति इत्यादि अनेक धर्मस्वरूप जीवादि सप्त तत्व उनके ज्ञान में सदा प्रतिभासित रहते थे एवं बड़े-बड़े देव और इन्द्र आकर उनके चरणों को नमस्कार करते थे। महाराज की दृष्टि मुनि यशोधर पर पड़ी। उन्होंने किसी पार्श्वचर से पूछा—

देखो भाई ! नग्न, स्नानादि संस्कार रहित, एवं मूंड मुँडायें यह कौन खड़ा है ? मुझे शीघ्र कहो। पार्श्वचर वौद्ध था उसने शीघ्र ही इन शब्दों में महाराज के प्रश्न का जवाव दिया

—कृपानाथ ! क्या आप नहीं जानते ? नग्न शरीर खड़ा हुआ, महाभिमानी यही तो रानी चेलना का गुरु है।

वस, वहाँ कहने मात्र की ही देरी थी। महाराज इस फिराक मे ही वैठे थे कि कव रानी का गुरु मिले और कव उसका अपनाम करूँ व रानी से वदला लूं। ज्यों ही महाराज ने पार्श्वचर के वचन सुने, मारे क्रोध से उनका शरीर उवल उठा। वे विचारने लगे, अहा रानी से वैर का वदला लेने को आज यह रानी का गुरु भी मिला है। अव मुझे भी इसे कष्ट पहुँचाने मे और इसका अपमान करने में चूकना नहीं चाहिए तथा ऐसा क्षणएक विचार कर महाराज ने शीघ्र ही पाँच सो शिकारी कुत्ते, जो लम्वी-लम्वी दाढ़ों के धारक, गिरि के समान ऊँचे एवं भयंकर थे मुनिराज पर छोड़ दिये।

मुनिराज परमध्यानी थे, उन्हें अपने ध्यान के सामने इस बात का जरा भी विचार न था कि कौन दुष्ट उनके ऊपर क्या अपकार कर रहा है इसलिये ज्योंही कुत्ते मुनिराज के पास गये और उनकी शांतिमुद्रा देखी, त्योंही कुत्तों की सारी क्रूरता एक ओर किनारा कर गई। मंत्र कीलित सर्प जैसा शांत पड़ जाता है, मन्त्र के सामने उसकी कुछ भी तीन-पांच नहीं चलती है, इसी प्रकार वे कुत्ते भी शांत हो गये। मुनिराज की शांत मुद्रा के सामने उनकी कुछ भी न चली। वे मुनिराज की प्रदक्षिणा देने लगे और उनके चरण कमलों में नम गये। (श्रेणिक च. 533)

"योगी के तेज से भयभीत शेर भागा"

एक बार महाप्रभु के आश्रम पर एक बब्बर शेर आया । तब महाप्रभु न योगेश्वर रामलाल को चिमटा देकर उसे बाहर निकाल देने का आदेश दिया । गुरू आज्ञा पाकर योगेश्वर शेर की ओर बढ़े । अब महाप्रभु ने अपने भ्रूपटल उठाकर शेर की ओर देखा । महाप्रभु के देखते ही, तेज न सह सकने के कारण शेर निस्तेज हो पीठ फेर कर खड़ा हो गया । उस समय महाप्रभु की आँखो के तेज के सामने शेर की आँखो का तेज कुछ भी नही था ।

"शेर से आत्मीयत सम्बन्ध"

बाबा रामनाथ (स १९२०-१९९० वि) एकान्त सेवी सन्त थे, उनका सारा समय रामनाम के जाप मे ही व्यतीत होता था । राम निवास बाग मे ठाकुर हरिसिंह के डेरे के पास एक शेर पिजड़े मे बन्द था । रात को वह बड़ा शोर मचाता था । एक दिन बाबा रामनाथ कितने ही मनुष्यो की उपस्थिति मे शेर के मुँह पर हाथ फेरते हुए बोले— इतना शोर मत किया करो ।" सिह ने इसके बाद कभी शोर नही मचाया ।

वर्तमान आधुनिक वैज्ञानिक युग मे भी वैज्ञानिक लोगो ने, विशेपत मनोवैज्ञानिक लोगो ने विभिन्न परीक्षण, निरीक्षण से यह सिद्ध कर दिया है कि भावो का असर केवल पचेन्द्रिय के ऊपर ही नही पड़ता है बरन् बनस्पति, यहाँ तक कि प्रकृति पर भी असर पड़ता है । जीव मे जो भाव उत्पन्न होते है उससे मानसिक (भावात्मक) तरग निसृत होती है । वह मानसिह तरग विश्व मे फैलती है । शक्तिशाली भावात्मक तरग होने पर वह तरग फैलती हुई सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त हो जाती है । सामान्य भावलहर सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त नही हो पाती है, स्वय की ऊर्जा के अनुसार कुछ क्षेत्र तक फैल जाती है । शुभ भाव होने पर जो तरग निकलेगी वह तरग प्रशस्त होने के कारण उसका प्रभाव भी शुभ (रचनात्मक) होता है । यदि अशुभ भाव है, तो तरग अशुभ निकलेगी जिससे उसका प्रभाव अप्रशस्त (विध्वसात्मक) होगा । विज्ञान सिद्ध सिद्धान्त यह है कि प्रेम मैत्री दया भाव स यदि वनस्पति म पानी, खाद दिया जाता है तो वनस्पति अधिक पल्लवित, पुष्पित फलदायी होती है । प्रेमभाव नही मिलने पर वे कम विकसित होते हैं और फल कम देते हैं । मनुष्य का बाना (बावन) होने का कारण भी प्रेम आदि भावो का नही मिलना है । शिशुओं को भी वात्सल्य के वातावरण मे रखने से शिशु अधिक बढ़ते है और सकीर्ण, तनावपूर्ण वातावरण मे रखने मे कम विकसित होते है । सुन्दर, ललित, मधुर सगीत से दुधारू पशु अधिक दूध देते है, वनस्पति अधिक फल, पुष्प देती है । मत्र से मत्रित जल के सिंचन से भी पोधे अधिक फलादि देते है तथा गाय आदि अधिक दूध देती है । इससे सिद्ध होता है कि प्रशस्त भाव, सुध्यान प्रेम वात्सल्य आदि का प्रभाव बहुत ही उत्तम होता है । इसीलिए ध्यानियों का प्रभाव असाधारण, अलौकिक होता है । विशेष जिज्ञासुओं क लिये मेरे द्वारा रचित पुस्तक "अति मानवीय शक्ति", "मत्र विज्ञान" आदि अवलोकनीय है ।

❑

ध्यान का स्वरूप, प्रकार और फल

☐ कुमार कवि कृत आत्म-प्रवोध से अनूदित

दक्षिण भारत के ब्राह्मण विद्वान गोविन्द भट्ट के ज्येष्ठ पुत्र कुमार कवि (वि. सं. 1290 से 1347) के आत्मप्रवोध ग्रन्थ से ध्यान विषयक भाग का पं. जगन्मोहन लालजी शास्त्री द्वारा 1989 से सम्पादित एवं सवाई सिंघई धन्य कुमार जैन, कटनी द्वारा प्रकाशित प्रति के आधार से, अनुवाद कर हम यहाँ दे रहे है. शास्त्रीजी अपने सम्पादकीय मे लेखक के पिता श्री गोविन्द भट्ट के सम्बन्ध मे लिखते हैं—स्वामी समन्तभद्र के स्वयंभु-स्तोत्र के परायण से ही उनकी तर्कपूर्ण दृष्टि जैन शास्त्र की ओर आकर्षित हुई और वे जैन धर्म के कट्टर श्रृद्धालु बने थे।"

स्मारिका के इसी अंक मे प्रकाशित फोनेशिया के दार्शनिक पोराफेरी के ग्रन्थ "मांसाहार का त्याग" के अंशो मे 1/27 मे निद्रालु जागृत मानव के भेद को जैन परम्परा मे मिथ्यादृष्टि और सम्यकदृष्टि के रूप मे स्पष्ट किया गया है. प्रथम अपने आर्त-रौद्र ध्यान के लोकों मे जीकर कर्मों के संपट्ट रूप सीप को ही पुष्ट करता है दूसरा उस सीप का धर्म-शुक्ल ध्यान-अध्ययन से भेदन कर आत्मारूपी मुक्ता को प्राप्त करने का यत्न करता है. दोनो की दिशायें भिन्न-भिन्न है निद्रालु जन वहुसंख्यक है, इससे महामूल्यवान आत्मा मुक्ता के लोभी सम्यग्दृष्टि को कोई शैथिल्य उत्पन्न नहीं होता, वरन् अज्ञानी वहुसंख्यक जनो पर उसे करूणा ही होती है कि वे कर्मों की खोल में वद्ध संसार भ्रमण के भाँति-भाँति के क्लेश भोगते हैं।

आज पूर्व और पश्चिम सर्वत्र ही ध्यान के सम्वन्ध मे मानव रुचि लेने लगा है. विपश्यना, प्रेक्षाध्यान आदि नामो से ध्यान शिविर अर्द्ध माह, एक माह के आयोजित किये जाते हैं. क्या यह "सीप" के ही लोक मे कहीं टिकने के यत्न है या सीप के आवरण का भेदनकर आत्मारूपी "मुक्ता" के लोक मे प्रवेश है ? आत्म प्रवोध के लेखक तो स्पष्ट कहते है जो सम्यग्दृष्टि नही है अर्थात् जिन्हें आत्मा "मुक्ता" का दर्शन/परिचय/स्पर्श प्राप्त नही हुआ है उसकी महिमा का जिन्हें अहसास नहीं है, वे आर्त-रौद्र ध्यान ही (तीव्र/मन्द) करते है. सम्यग्दृष्टि मे भी अप्रमत्त मुनिजनो को ही वे प्रमुखतः धर्मध्यान का अधिकारी मानते हैं. शुक्ल ध्यान का अधिकारी तो जैन परम्परा इस काल में मुनिजनों को भी स्वीकार नही करती.

ध्यान देने की वात यह है कि लेखक ने ध्यान-अध्ययन को समान रूप से सिद्धि का मार्ग स्वीकार किया है और इस प्रकार जो अध्ययन के विषय एक मुमुक्षु के वनते हैं वे सब ही उसके एकाग्र होने, ध्यान करने के विषय जैन परम्परा मे स्वीकार किये जाते हैं. लोक, आत्मा, अ से ह तक सभी स्वर एवं व्यंजन, ॐ आदि वीतराग सम्यक् अर्थों में ध्यान के विषय मान गये हैं. मिथ्यात्व, कषाय के लोकों से मन को निकालकर आत्मा के समीप लोक मे प्रवेश देना, रमाना धर्म-शुक्ल ध्यान का मुख्य लोक है. लोक और लोक के पदार्थ तो वह ही है और शुभ एवं अशुभ दोनो ही प्रकार के ध्यान उन्हें ही अपने प्रकार के विषय बनाकर उत्पन्न होते हैं। दृष्टि और लक्ष्य के भेद हैं, एक में पदार्थ को मनमाना स्वीकार किया जाकर इन्द्रिय विषय, वासना, कषाय आदि का पोषण किया जाता है और इस प्रकार कर्म सीप को ही सींचा जाता है, दूसरे में पदार्थ का सर्वज्ञ प्रणीत आगम, अनुभव एवं युक्ति से सामंजस्य, जिसे धर्म स्वीकार किया गया है, को ध्यान-चिन्तन का विषय बना समस्त कषाय और वासनाओं का उच्छेद कर, कर्म सीप का भंजन कर मानव आत्मा मुक्ता को प्राप्त करता है। एक में राग द्वेष, ... का सेवन/पोषण होता है दूसरे में रागमुक्त, ज्योतिर्मय "अर्ह" के रूप में अर्ह को स्वीकार कर सांसारिक कालिमा का उच्छेद का किया जाता है.

यह ध्यान औपचारिक रूप में एकान्त में बैठकर आसन विशेष में किया जावे, या मनोवैज्ञानिक रूप से ... सम्यग्दृष्टि साधकों के तो यह पल-पल का धर्म होता है

सम्पादक

तुम रत्नत्रय के धाम हो और यह शरीर तुम्हारा स्थान है यहाँ स्थित [तुम] इसकी रक्षा करो निरोग रहते हुए (समाधानत) तुम सम्यक् पद को साधोगे शरीर के सप्त धातुओं को सुखाने वाले, भृकुटि चढाकर भयकर रूप से देखने वाले विषम क्रोध रूपी राक्षस पति स इस शरीर को नष्ट मत करो, इसकी रक्षा करो, रक्षा करो ।[73](इसी प्रकार अन्य कषाय—क्लेशो से अपनी देह की रक्षा करो)

अशुभ आर्त एव रौद्र ध्यान को त्याग कर, शुभ रूप धर्म ध्यान मे स्थित होकर उसकी विशुद्धि के बल से योगीजन, शुक्ल ध्यान से मुक्त होते हैं [78] आर्त—रौद्र को छोड़न वाले ध्याता तीन प्रकार के माने गये हैं (1) आरम्भक, (2) तन्निष्ठ, (3) निष्पन्न । [79]जो नैसर्गिक रूप से (स्वभाव से ही) अथवा गुरू के ससर्ग के विरति परिणति को प्राप्त कर, एकान्त स्थान मे बैठ कर, वदर के समान चचल मन के स्थभन करने के लिए निरतर अपनी दृष्टि दृढ़ता से नासाग्र रखते हैं, धैर्यपूर्वक वीरामन लगाकर, निश्चल होकर विधिपूर्वक समाधि को आरभ करते हैं, वे आरम्भक है [80] [उनके आत्मा और मन के बीच इस प्रकार सवाद चलता है] हे मन ! क्या है स्वामी ? क्यो (यत्र-तत्र) भ्रमण करते हो ? इन्द्रियों द्वारा आकृष्ट होकर । किसमें भ्रमण करते हो ? इन्द्रिय सुख मे वह तो सुख नही है (फिर) सुख क्या है ? एकाग्रता । वह कैसे होती है ? समाधि के द्वारा वह कहाँ है ? मेरे म है । तुम कहाँ हो ? मैं इस (समाधि) मे हूँ, भीतर प्रवेश कर देखो हे जीव देव ! (मेरे पर कृपा) दृष्टि द्वारा सदा प्रसन्न होओ । [81]

जो श्वास, आसन, इन्द्रिय, मन, भूख, प्यास, निद्रा पर विजय प्राप्त करता है मौन पूर्वक अन्तर्जल्प द्वारा तत्वो का वार-वार अभ्यास करता है, प्राणियो पर बार-बार प्रमोद, करूणा, मैत्री स्वीकार करता है, ध्यान मे निष्ठा पूर्वक स्थित होता है उसके ध्यान निष्ठता है ।[82] मुनि उस रूचि रूपी रथ पर आरोहण करे जिसके पास सुखदायक, समान रूप से (मिलकर) सिद्धि देने वाले ध्यान और अध्ययन रूपी घोड़े हैं । इस प्रकार अत्यन्त गहन ससार मार्ग को पार करे और क्रम-क्रम से प्रकट हुए अविनाशी, अन्तर्मग्र निवास स्थान को प्राप्त करे ।[83]

जिसका आत्मा वाह्य एव अन्तर्जल्प की लहरो की पक्ति से दूर हो गया हे तथा पूर्ण केवल ज्ञान रूपी कमलिनी के मध्य सुशोभित हुआ अपने अन्तर्मानस मे स्वच्छ अमृत को निरन्तर पीता है उसे ही यहाँ निष्पन्न योगी कहा गया है । [84] कदाचित् पृथ्वीमण्डल चलायमान हो जाये, पर्वत भी स्थान छोड़ दे, प्रलयकाल के प्रचण्ड वेग से समुद्र भी मर्यादा छोड़कर चचल हो जाये तो भी पवन जयी, स्वावलम्बन पूर्वक आत्म शक्तियो को प्रकट करने वाले योगीजन अपने आत्म ध्यान की स्थिर परिणति से कभी विचलित नही होते ।[85]

धर्म वस्तु का स्वभाव है, शान्ति और धृति (धैर्य) भी धर्म है । आत्मा मे प्रकट होने वाला शुद्धोपयोग, सदाचार, शास्त्र स्वाध्याय भी धर्म है, दस प्रकार के (क्षमादि) लक्षण वाला भी धर्म है, धर्म के धाम (मन्दिर आदि), प्रकृष्ट गुणो के धारण करने वाले भी धर्म हैं तथा पच परमेष्ठी भी धर्म हैं इनका ध्यान ही धर्म ध्यान है धर्म के इन प्रकारो से रहित ध्यान धर्म नही है ।[86] आज्ञा विचय, अपाय विचय, विविध विपाक विचय और सस्थान विचय रूप से जो चिन्तन किया जाता है वह अन्यथा नही है, इन चार तत्वो का चिन्तन भी धर्म ध्यान है [87]

जिनेन्द्र के वचनों को प्रमाण करना आज्ञा है, कर्म और आत्मा को सर्वथा अलग करना अपाय है, उनका (कर्मों का) अनुभव विपाक है और लोक की स्थिति संस्थान है । उनकी भावना करना विचय है । विद्वानों द्वारा महामोह को नष्ट करने वाला चार प्रकार का है (यह) धर्म ध्यान कहा गया है.[88]

जिनेन्द्र ने कहा है सत्ता एक है, नय के दो भेद है, मोक्ष मार्ग तीन प्रकार से है, गति चार प्रकार की है, शरीर पॉच है, जीवों के समूह (पॉच स्थावर और एक त्रस) छह हैं, (अस्ति, नास्ति आदि) सात भंग है, सिद्धों के आठ गुण हैं, पदार्थ नो है, देश संयत की अवस्थायें (प्रतिमायें) ग्यारह है, सम्यक् तप वारह है.[89] जो जैसा सर्वज्ञ देव ने कहा है उसे उसी प्रकार से अपने सम्यक् प्रेक्षा (ज्ञान/दर्शन) रूप नेत्र से देखता है तथा उसी प्रकार वस्तु का चिन्तन करता है वह मुनीन्द्र आज्ञा धर्मध्यान की मुद्रा को प्राप्त करता है ।[90] जो मुनीन्द्र कर्म व्याधि का ऐसा लक्षण है, ऐसी प्रकृति है, यह इसका निदान है, ऐसा प्रकोप है, यह इसका प्रारम्भ है और इसका विकास यह है—इस प्रकार साक्षात् जॉच कर उसके उपशम करने वाले योग्य-योग्य उपायों से उसे दूर करता है उसके अपायविचय नामका धर्मध्यान होता है ।[90] आठों कर्मों की अपने-अपने उत्पत्ति के क्रम से जितने काल होने वाली वलवान उदयावली जो फल देती है उस उस रूप योगियों के मानस में प्रतिफलित (प्रकाशित) होती है । ध्यान में धुरन्धर जन उसे पवित्र विपाक धर्म ध्यान जानते हैं ।[92] जिसका प्रमाण तीन सौ तियालीस घन राजू है, जो तीन वातवलयों से (चारों ओर) घिरा हुआ है, जो दोनों पैर फैलाकर तथा कटी पर दोनों हाथ रखकर खड़े पुरुष की आकृति का है, जो सतत् स्थिर है ऐसे लोक का चिन्तन करना चाहिए । यह संस्थान विचय (धर्मध्यान) है ।[93]

जैसे स्वर्ण अग्नि की शिखा द्वारा तपाये जाने पर मलिनता को त्याग देता है और वर्ण को उत्कर्प से सोलह वान का वन जाता है, उसी प्रकार धर्मध्यान अधिक अधिक विशुद्धि को पाकर निर्मल होता हुआ शुक्ल ध्यान रूप में परिणमन करता है ।[94] अर्थ, व्यंजन (शब्द) और योग के परिवर्तन से जिसमें पृथक्त्व है तथा श्रुत के अवलम्बन से उसके पृथक-पृथक विपय-विन्दु (वितर्क) का जिसमें चिन्तन/विचार किया जाता है उसे प्रथम पृथक्त्व वितर्क विचार नामक शुक्ल ध्यान कहा जाता है । तथा, अर्थ विशेप की प्रमुखता होने पर भी जहाँ परिवर्तन हो तथा एकत्त्व रूप (विन्दु विशेप) श्रुत का जहाँ चिन्तन हो वह एकत्व वितर्क विचार नामका दूसरा शुक्लध्यान जिनेन्द्र ने कहा है ।[95] जिस ध्यान में कुछ काय योग की सूक्ष्मतर क्रिया रह जाती है तथा (मोक्ष की) सिद्धि जिसके समीप आ जाती है वह सूक्ष्म क्रिया नामक (तीसरा) शुक्ल ध्यान है । जहाँ पर सूक्ष्म क्रिया का भी अभाव हो जाता है तथा जिससे मोक्ष होता है वह छिन्न क्रिया नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान है ।[96]

मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र गुणस्थानों में स्थित जन आर्त और रौद्र रूप अशुभ ध्यानों के ही करने के अधिकारी है ।[97] अविरत सम्यक्दृष्टि मे और विरताविरत में धर्मध्यान गौण रूप मे पाया जाता है । प्रमत्त संयत मे भी धर्मध्यान गौण रूप मे है ।[98] धर्मध्यान मुख्य रूप मे अप्रमत्तादि गुणस्थानो मे होता है । उपशम एवं क्षपक श्रेणी मे प्रथम दो शुक्ल ध्यान क्रम से होते है ।[99] योगियों मे श्रेष्ठ योगी (तेरहवें गुणस्थानवर्ती) मे सूक्ष्मक्रिया शुक्ल ध्यान होता है, समुच्छिन्न क्रिया अयोगी परमेष्ठी (चौदहवे गुणस्थानवर्ती) के होता है । सिद्ध परमात्मा ध्यान

महावीर जयन्ती स्मारिका ९३-२ ।३

के कर्ता नही है, वे गुणस्थान वर्ती नही है । ये आठ आत्मगुणो से सम्पन्न हैं, उनके ये आत्मगुण कभी नष्ट नही होगे ।[101]

जैसे ये प्रसिद्ध चार प्रकार ध्यान की विधियाँ हैं, उसी तरह चार अन्य भी प्रकार हैं— पिण्डास्पद (पिण्डस्थ) 2 पदास्पद, 3 रूपास्पद और 4 रूपविवर्जित ।[102] इनमे (प्रथम) तीन आलम्बन सहित होते है और अन्त का एक निरालम्बन होता है । जो सालम्वन अभ्यास से लक्ष्य को ध्याता है वह ही निरालम्बन ध्यान के योग्य होता है ।[103]

ग्रीष्म के मध्यान्ह मे प्रकाशमान अनेक सूर्यों की दीप्ति समान प्रभामण्डल जिसका है (तथा) जो अमृत के समुद्र की उछलती हुई लहरो से मन को स्नान कराते हुए समान है ऐसे जगतपति (परमात्मा) को अखण्डित अपने पिण्ड (देह) के मध्य जो स्थिर परिणति के साथ समाधि मे स्थित होकर ध्याता है, उसके पिण्डस्थ नाम का ध्यान होता है ।[104] परमेष्ठियो का वाचक, चन्द्रमा की कला सहित निरन्तर झरते हुए आनन्द के स्रोत रूपी रसायन मे स्नान किये हुए ऊ बीजाक्षर हृदय-कमल मे, नाभिकमल मे, मस्तक कमल मे जो सुधीजन धारण करते हैं, उनके यह दूसरे प्रकार का पिण्डस्थध्यान/समाधि है ।[105] जो योगी सम्पूर्ण धातु रहित उज्वल दिव्य देह सहित, अस्खलित केवलज्ञान को प्रकट करता हुआ, अर्हन्त भगवान की सम्पूर्ण कलाओं सहित स्वय को विचारता है उसके एक अन्य ही प्रकार का पिण्डस्थ ध्यान होता है ।[106]

जो अक्षर, पद, वाक्य को मन मे जपकर स्थिर करना है वह किंचित् समाधि उक्त ध्येय नाम से अकित पदास्पद/पदस्थ ध्यान है ।[107] 'अ' अक्षर अनन्तानन्त ज्ञान ऋद्धि के धारक अतिशयवान् अर्हन्त परमात्मा का लक्ष्य करने वाला है ।[108] जो स्वभाव की सिद्धि कर चुके है, परम श्रेष्ठ गति को प्राप्त कर चुके हैं । 'सि' अक्षर मे स्थित वे सिद्ध देव योगिजनो को सिद्धि दायक हैं ।[109] 'आ' अक्षर सघनायक आचार्यों का ज्ञान कराता है जो आचारवान, आधारवानो मे श्रेष्ठ हैं तथा ज्ञान के ऐश्वर्य से सयुक्त हैं ।[110] जो उत्कृष्ट, उदात्त, उन्नतिप्रद, परिग्रह रहित उपदेष्टा उपाध्याय परमेष्ठी हैं, वे 'उ' अक्षर के ध्येय है ।[111] जो शत्रु-मित्र मे समभावी है, स्व-पर के प्रयोजन को साधने वाले है, सराहने योग्य ऐसे साधुजन 'सा' अक्षर द्वारा स्मरण किये जाते हैं ।[112] जिसके मन से अ-सि-आ-उ-सा अक्षर एक क्षण को भी नही छूटते हैं वह व्यक्ति शीघ्र ही पचम गति (मोक्ष) को प्राप्त करता है ।[113]

अर्हत, अदेह, आचार्य, उपाध्याय और मुनीश्वर के प्रथम वर्ण से निर्मित ऊ शब्द हृदय मे धारण किया हुआ पाँची परमेष्ठियो का स्मरण कराता है ।[114] 'आ' के आलोक मे 'उ' के मिलाने पर और मुनि के 'म' से सिद्ध किया गया 'ओं' शब्द रत्नत्रयमय है । अत सिद्धि प्राप्त करने के लिये ध्यान करने योग्य है ।[115] अधोलोक, अवनि (मध्य लोक) और उर्ध्व जगत के प्रथम अक्षरो को एकत्र करके स्वय उसके ऊपर चन्द्रमा की कला के समान सिद्धिशिला बनाओं। उसके ऊपर सिद्धो की पक्ति स्वरूप देदीप्यमान अमृत बिन्दु रूप उज्वल शिखा (शीर्ष बिन्दु) रखने पर तीन लोकमय 'ॐ' बनेगा । इसका ध्यान किया जाना चाहिये ।[116] अभिनिबोध (मतिज्ञान) के साथ आगम (श्रुत ज्ञान) तथा उत्कृष्ट निर्मल केवल ज्ञान [का 'उ' अक्षर] और इनके ऊपर अमृत कला के निवास स्वरूप मोक्ष के 'म' अक्षर से बनाया गया 'ॐ' पाँच ज्ञान का वाचक है । पाँच ज्ञान के फल के समूह रूप इसकी रचना करो (ध्यान करो) ।[117]

साक्षात् अमृत मूर्ति यह 'अ' अक्षर सुख देता है । वह स्फुरित होती हुई रेफ (ʻ) सम्पूर्ण रत्नत्रय को प्राप्त कराती है । 'हं' अक्षर मोह सहित पाप समूह को सहसा नष्ट करता है । इस प्रकार कथित वर्णो से मिला हुआ इस वीजाक्षरं का स्मरण करें ।[118] (यह अर्हं' मन्त्र) 'अ' से 'ह' अक्षर के मध्य जितने वर्ण हैं उन्हें निवास देता है । इस प्रकार से संचित किरणों वाली उज्वल अमृत कला रूप विन्दु सुशोभित होती है, वह परम व्रह्म का ध्यान कराती है । वह आनन्ददायी पद (मुझे) हो ।[119] जिसमें अन्धकार के नाश करने वाले सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा की अमृत विन्दु समान लेखा (रेखा) है उस आकाश समान जिसका आदि अन्त नही है (ऐसे महामन्त्र 'अर्हं' में) धन्य पुरुष निश्चय से मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ।[120] जो राग की कणिका (अंग) से हीन 'र' (रैफ) की संगति से तथा स्वच्छ ज्योति स्वरूप प्रकाश कलाओं से सनाथ (युक्त) है ऐसे अहंकार के नाशक इस 'अर्हं' शव्द का यदि चिन्तन किया जाय तो वह सर्वज्ञनाथ के पद की सिद्धि कराने वाला होता है ।[121]

जिसमें नीचे ऊपर दोनों तरफ 'रेफ' सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की मुद्रा को, कला सुकृत्य (सम्यग्चारित्र) को तथा शून्य निर्मल परमात्मा का धारण करते हैं तथा अकारादि स्वर तथा ककारादि वर्ग जिसके कमल स्वरूप परिकर हैं ऐसे प्रधान वीजाक्षर र्ह (तथा ह्रीं) का विद्वान लोग निरन्तर ध्यान करें ।[122]

जो सिद्धि नगर का मार्ग है [ऐसे] नमः शव्द पूर्वक वीतरागी पंच परमेष्ठियों का वाह्य और अन्तरंग शत्रुओं की पराजय हेतु ध्यान करना चाहिए ।[123] जो सोते, जागते, वैठते, मार्ग में चलते, घर में रहते, स्खलित हो जाने पर, पर्वत, वन, समुद्र में प्रवेश करते हुए पंच नमस्कार मन्त्र को निर्वात (वायु रहित) खानि के समान स्मृति में, प्रशस्त मन मे सजे हुए की तरह धारण करता है वह ही इस जगत में पुण्यात्मा है ।[124]

रूपवान (मूर्तिक) पदार्थ के ध्यान को जिनेन्द्र ने रूपस्थ ध्यान कहा है, तथा रूपादि रहित चैतन्य विषय के ध्यान को रूपातीत ध्यान कहा है ।[125] लाल अशोक वृक्ष, तीन छत्र, चँवर, सुगन्धित पवन, पुष्पवृष्टि, स्पष्ट सुनाई देने वाली दिव्य भापा, भामण्डल, देदिप्यमान सिंहासन आदि आश्चर्य उत्पन्न करने वाले प्रातिहार्यों तथा साथ ही अतिशयों से सुशोभित श्रीमण्डप में विराजमान तथा योगीन्द्रों द्वारा जिनके चरण पूजे जाते हैं ऐसे श्री जिनेन्द्र देव का ध्यान करना चाहिये ।[126] मुक्ति रूपी लक्ष्मी के हस्ततल के समान अरूण वर्ण के मनमोहक ऊँचे उठे हुए (उत्तान) हस्त और चरण कमल वाले मेरू पर्वत के समान दृढ़, विशाल (परिवृढ़) एवं प्रौढ़ वंधन वाले तथा पर्यक आसन धारण किये हुए, चन्द्रकान्त मणि के समान निर्मल शरीर वाले तथा निश्चल रूप से नियोलित नेत्रों को नासिकाग्र पर लगाने वाले योगीन्द्र (जिनेन्द्र) योग दृष्टि से मन में पुण्यात्माओं द्वारा देखें जाते हैं ।[127]

पिण्डस्थ आदि तीन ध्यानो को ज्ञानी जन सकल (शरीर सहित) समाधि कहते हैं। ये ध्यान चारों शरीर धारी गुरुओं (अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु) या उन समान के आश्रय से होते है, यह माना जाता है। सिद्धात्मा रस-रूप से रहित, राग रहित, द्वेष रहित है। उनका ध्यान रूपातीत, निर्मल, निष्कल या देहरहित है।[128] वह सिद्धात्मा न अन्य से उत्पन्न होते हैं, न अन्य के उत्पादक हैं, न अन्य के कर्ता हैं, न अन्य के कार्य हैं, न अन्य पदार्थों को अनुभव करते हैं, न अन्यो के द्वारा अनुभवनीय है, न पुण्य पाप के बंधक है, न

उनसे बँधते हैं। अध्यात्म दृष्टि से देखने पर यह सिद्धात्मा उत्कृष्ट सिद्धि प्रदान करते हैं।[129] जिनका सुख अखण्ड अनन्त है, वल अतुल एव अनन्त है, दर्शन लक्ष्मी अनन्त है, जिनके आदि और अन्त से रहित अनन्त पद की किसी से समता नही है ऐसे निष्कल एव निष्कलक परमात्मा जयवन्त हो।[130] जो अन्तर्दर्पण मे प्रतिविम्बित अन्य दर्पण के समान अनन्तानत विशुद्ध वोधि के रूप मे स्फुरित (प्रकट) होते हैं, जो अनन्तानन्त आकाश के अस्तित्व को 'यह ऐसा है' इस प्रकार जानते हैं, वे देह रहित आत्मा, आत्मा द्वारा ही जानन योग्य है।[131] वह न गुरू हैं, न लघु है, न मध्यम हैं, न वालक हैं, न युवा हैं, न वृद्ध हैं, न स्त्री हैं, न पुरुप है, न नपुसक हैं, न भेदे जा सकते है, न छेदे जा सकते हैं और न नाशवान हैं।[132] वे सहज ही (स्वभाव से ही) न सरस है, न नीरस हैं, न द्रव्य रूप (वहने वाले) है, न घन रूप हैं, न खुले है, न ढ़के हैं, न विरत हैं न अविरत हैं, न हरते हैं, न रक्षा करते हैं, मोहान्धकार के नष्ट कर देने से इच्छा करने वाले नही है, तम-रज और सतोगुण वाले नही हैं। वे अन्य के गुण से गुणी नही है, अपने ही गुणो से गुणी हैं।[134] वे न करण हैं, न कर्म हैं, न कार्य के करने वाले (कारक) हैं, न शुभ हैं, न अशुभ हैं, न शुभाशुभ है। वे तो विशुद्धि से शुद्धि को प्राप्त ज्ञायक हैं, असीम, अपरिग्रही स्वामी हैं।[135] परम सुख के समुद्र परमात्मा के अन्तरग के परम रूप का यह निरूपण है। वे उपमा रहित है, अकृत्रिम रूप से सुन्दर है। वाणी एव मन के भी वे विपय नही है।[136] भगवती श्रुतदेवी भी उनका सम्पूर्ण वर्णन करने मे उत्साहित नही होती, तो मुझ जैसा वेचारा अतत्व दृष्टा, कुकवि वचन द्वारा यह वर्णन कैसे करता है ?[137]

यदि तुम्हारे चित्त मे शुद्धि सिद्धि का अन्तरग प्रवेश हुआ है तो शीघ्र ही आत्म ध्यान द्वारा शुद्ध अन्तरग वाले हो जाओ, सम्पूर्ण विमल ज्ञान एव ध्यान द्वारा कर्मों को नष्ट कर निष्कलक अपने आत्मा के स्वभाव को प्राप्त करो।[138] किसी तेल से भीगी हुई ज्योति के पात्र (दीपक) को दूर के पदार्थ जानने हेतु खोजना कोई योग्य नही है। यह सव मूर्तिक पदार्थों के ज्ञान कराने मे ही हेतु है (हेतु सर्वोजन परिणते)। यह आत्मा निरजन (अमूर्तिक) है। अत आत्म ज्योति के ग्रहण की विधि [रूप] आत्म दीप का ज्ञान करो।[139] सूर्य चन्द्र, मणियो से उत्पन्न विजली अथवा अग्नि अस्त-व्यस्त (नष्ट होने वाले तथा अन्य पदार्थों द्वारा उनका प्रकाश रूक जाता है) होने से उनका तेज मोह को नष्ट करने के लिये समर्थ नही है। मोहन्धकार को हटाने के लिये तथा पापो को नष्ट करने के लिये योगीजन निरजन (रागादि रहित), अविनश्वर, देदीप्यमान आत्म ज्योति को भजे।[140] उत्कृष्ट आत्मा से ज्ञान शक्ति पृथक नही है जैसे चन्द्रमा से उसकी कलाये भिन्न नही है, समुद्र से जल की तरगे भिन्न नही है, दीपक से उसकी वत्ती भिन्न नही है। ऐसा है इसलिये [ज्ञान शक्ति से] स्वात्म लाभ करो।[141] सम्यदर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष स्वरूप है। ज्ञान तो [आत्मा के] भीतर ही प्रविष्ट है, दृष्टि-दृष्टि (श्रद्धा) मे प्रविष्ट है, निर्मल तथा अचल शुद्ध चैतन्य ही चारित्र है। तत्त्वत ये तीन रत्न रूप परिणति आत्मा से भिन्न प्रकट नही होती। अत [योगीजन] निर्विकल्प अपनी आत्मा मे परमात्मा को नित्य अभिन्न जानते है।[142] उन लक्षणो से निखिल, अखण्ड आत्म स्वरूप को पहचान कर जो पुरुप अत्यन्त अहितकारी तथी दीर्घ ससार की हेतु हेयभूत अविद्या को छोड़कर ग्रहण करने की तीव्र वुद्धि से हित के आवास रूप आध्यात्म विद्या मे स्थित हाता है, उसका वरण करने के लिए मोक्ष लक्ष्मी निरुपम

वरमाला डालती है ।[143] मोक्ष न अत्यन्त अभाव रूप है, न जड़मय है, न आत्मा का आकाश के समान व्यापक होने रूप है, वहाँ से वापिस लौटना भी नहीं है, न सर्वज्ञ देव ने उसे अत्यन्त विषय सुख रूप माना है । वह तो सत् रूप, निस्सीम, अतीन्द्रिय सुख के उदय के निवास रूप अनिर्व्यापी (आत्मा से बाहर नहीं) कहा गया है ।[144] यह सिद्ध परमात्माओं की मुक्तावली (मोतियों की पंक्ति) निर्मल ध्यान से प्रवल कर्म के संघट्ट रूपी सीप को भेद कर शोभायमान है, सम्पूर्ण यथाख्याति वृत्त (गोलाई-चरित्र) को धारण करती है, महामूल्यवान है, स्वच्छ अपने स्वभाव से ही प्रतिफलित होती है । निर्मल अन्तर्गुणों वाली यह सिद्ध मुक्तावली हृदय में सुशोभित होने पर अन्तरंग ज्योति का प्रकाश हमें करें ।[145]

❑

फाईल : महाफिल १

कंगाली में कंगाल के सव ढँग विगड़ जाते है ।
जिसके दिन वोदे आते हैं; सुख-प्रद भोग भाग जाते है ।
संशय नोच नोच खाते है;
उस कुलीन कुल-पाल के शुभ लक्षण झड़ जाते है ।
प्यारे प्यार नहीं करते, मित्र माँगने से डरते है;
नाते दार नाम धरते है;
कव तक रोटी-दाल के, तव लाले पड़ जाते है ।
घर के घोर कष्ट सहते है, भूखे रोष भरे रहते है
कहनी अनकहनी कहते है;
मुखिया जी विन माल के सकुचाएँ सिकुड़ जाते है ।
दुःख दीन दशा होती है, प्रतिभा लोक लाज खोती है
दुविधा सुधि विसराय रोती है
शंकर धर्म मराल के व्रत पंख उखड़ जाते है ।

सौजन्य से—लूणकरण वाकीवाला,
106, बापू नगर, जयपुर ।

चतुर्थ गुणस्थान मे तप और चरित्र

☐ प्रकाश हितैषी शास्त्री

सम्पादक

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती गृहस्थ सम्यग्दृष्टि को आगम मे अविरत सम्यग्दृष्टि या असयमी सम्यग्दृष्टि कहते हैं, इससे कुछ आगम अभ्यासी बन्धु कहने लगते हैं कि चौथे गुणस्थान मे चारित्र और तप नहीं होता है गभीर अध्ययन के अभाव मे ये शकाएँ उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है इस सदर्भ में इसी खण्ड मे 'सयम निरूपण मे शैली भेद' लेख देखे, तया कुमार कवि ने भी "आत्म प्रबोध' मे चतुर्थ गुणस्थान मे धर्म ध्यान गौण रूप से स्वीकार किया है। देखे इसी खण्ड मे ग्रन्थ से अनुवादित भाग।

पद्मनदी आचार्य ने गृहस्थ के धार्मिक षट् कर्त्तव्यो का वर्णन करते हुए—देवपूजा, गुरू की उपासना, स्वाध्याय, सयम, तप और दान को आवश्यक धर्म/कर्तव्य बतलाया है इससे यह तो निश्चित है कि गृहस्थ भी तप करता है तथा दूसरी बात यह है कि चौथे गुणस्थान से निर्जरा का प्रारम्भ आचार्य उमास्वामी ने बतलाया है और वह निर्जरा तप से होती है। तप की परिभाषा करते हुए सर्वार्थ सिद्धि ग्रन्थ मे कहा है—कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तप (1 अ—9 सूत्र 6 1) कर्मक्षय के लिए जो तपा जाता है, वह तप है इसी की परिभाषा समयसार मे आ अमृतचद ने दी है—स्वरूपविश्रान्त निस्तरग चैतन्य प्रतपनाच्च तप (गा 14)। नियमसार टीका मे तप की विस्तार से परिभाषा की गई है, जिसका प जयचन्द जी ने अर्थ लिखा है—सहज निश्चयनात्मक परम स्वभाव स्वरूप परमात्मा मे प्रतपन सो तप है, (55) प्रसिद्ध शुद्ध कारण परमात्म तत्व मे सदा अतर्मुख रहकर जो प्रतपन वह तप है, (118) आत्मा को आत्मा मे आत्मा से धारण कर रखता है, टिका रखता है, जोड़ रखता है वह अध्यात्म है, और वह अध्यात्म सो तप है धवला मे कहा है—तीनो रत्नत्रय को प्रकट करने के लिए इच्छा निरोध को तप कहते हैं (पु 35/5) भगवती आराधना मे—चारित्र मे जो उद्योग और उपयोग किया जाता है जिनेन्द्र भगवान उसको ही तप कहते हैं (गा 10)

इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि तप मे स्वरूप विश्राति होती है आत्मा मे स्थिरता का नाम तप है, और इसी आत्म स्थिरता का नाम ही चारित्र है इससे यह निर्णय हो जाना चाहिए कि तप चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है, और उसमे आत्मा की अनुभूति और स्थिरता भी होती है अत चौथे गुणस्थानवर्ती गृहस्थ को आत्मानुभूति रूप उपयोग होने से ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन जाता है एव आत्मस्थिरता होने से सम्यग्चारित्र भी प्रकट हो जाता है।

भगवती आराधना में कहा है—सब तपों का चारित्र में अंर्तभाव हो जाता है (6/33)

अत. तप का प्रारंभ सम्यग्दर्शन से ही हो जाता है । विना सम्यग्दर्शन के करोड़ों वर्ष तक उग्रतप करने पर भी वोधि (सम्यग्यज्ञान) की प्राप्ति नहीं होती है. (दर्शन पा. 5)

स्वरूप विश्रान्ति रूप निश्चय तप निश्चय चारित्र का मुख्य कारण है. यह निश्चय चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक होता है. अतः मोक्ष मार्ग भी चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रारम्भ हो जाता है. आचार्य संमतभद्र ने कहा है—

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्
अनगारो गृही श्रेयान निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥
(रत्न क. श्रावका. 33)

मिथ्यात्व रहित गृहस्थ भी मोक्षमार्गी है किन्तु मिथ्यात्व सहित मुनि मोक्षमार्गी नहीं है. इसलिए मिथ्यादृष्टि मुनि से सम्यग्दृष्टि गृहस्थ श्रेष्ठ है ।

चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र

कुछ वन्धु आगम अभ्यासी होकर भी कहते हैं चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र नहीं होता है किन्तु आगम में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को अविरत सम्यग्दृष्टि या असंयत सम्यग्दृष्टि तो कहा है किन्तु कहीं पर भी अचारित्र सम्यग्दृष्टि नहीं कहा है क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यग्चारित्र वन जाता है । (पंचाध्यायायी गा. 768)

अनंतानुवंधी के अभाव में ही सम्यग्दर्शन होता है । वह अनंतानुवंधी कपाय चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृति है । अतः उसके अभाव होने पर चारित्र प्रगट होना ही चाहिए. आचार्य कुंदकुंद ने उसे सम्त्क्त्वाचरण चारित्र कहा है. (चा.पा.गा. 5) अंनतानुवंधी कपाय को द्विमुखी प्रकृति कहा गया है । अर्थात् वह सम्यग्दर्शन को घातती है और चारित्र का भी घात करती है. अतः उसके अभाव में चारित्र प्रगट होना चाहिए. अनंतानुवंधी के सद्भाव में सम्यग्दर्शन प्रकट नहीं होता है, इसलिए वह सम्यगदर्शन के घात में भी निमित्त है और उसके रहते सम्यग्चारित्र भी प्रगट नहीं होता है इसलिए चारित्र की घातक भी है । अतः उस अनंतानुवंधी के अभाव में प्रगट होने वाले चारित्र को स्वरूपाचरण चारित्र का प्रारम्भ कहते हैं ।

सम्यग्चारित्र की परिभापा छहढाला मे इस प्रकार की है—

"आप रूप में लीन रहे थिर सम्यग्चारित्र सोई ।"

आला के स्वभाव में स्थिर होना निश्चय सम्यग्चारित्र है । दर्शन ज्ञान चारित्र यदि मिथ्या होंगे तो तीनों एक साथ होंगे, और यदि सम्यक् होंगे तो, तरतमता से, एक साथ होंगे । इनकी दो ही अवस्थाएँ होती हैं, सम्यक् या मिथ्या । अतः चौथे गुणस्थान में व्रत और संयम नियमानुसार नहीं होते हैं किन्तु पापों में और विषयों में स्वच्छंदता भी नहीं होती है. जब उसके राग और विषयों की रुचि ही टूट जाती है तो उनमें मग्नता कैसे हो सकती है ? इसीलिए ऐसे जीव को ज्ञानी और विरागी कहा है.

❏

शास्त्रों मे संयम निरुपण में शैली भेद

☐ निहालचन्द पाण्ड्या

मानव जीवन मे सयम का बड़ा महत्त्व है, इससे ही उसकी सार्थकता है । थोड़ा (देश) सयम तो तिर्यंच (पशु) आदि भी धारण कर लेते हैं, पर सकल सयम धारण करना तो मानव के लिए ही सम्भव है । इसे धारण किये विना ससार के दु खो से मुक्त हो आत्मा परमात्मा नही वन सकता ।

शास्त्रो मे सयम का हम दो प्रकार से निरूपण पाते हैं—

1 गुणस्थानो के हिसाव से 2 धर्म के रूप मे । आचार्य नेमीचन्द्र कृत गोमट्टसार (जीवकाण्ड) मे निरूपण प्रथम प्रकार का है और आचार्य अकलक कृत राजवार्तिक के 9/6 मे निरूपण दूसरे प्रकार का है । दोनो ही निरूपणो का अपना अपना स्थान है । धर्म के रूप मे किया गया निरूपण सामान्य मानव को सयम को जीवन मे यथाशक्ति ग्रहण की प्रेरणा करता है ।

आचार्य नेमीचन्द्र कृत गोमट्टसार (जीवकाण्ड) के तेरहवे अधिकार मे सयम को निम्न प्रकार समझाया गया है—

'व्रतो (अहिसादि) का धारण, समितियो (ईर्या, भाषा आदि) का पालन, कषायो (क्रोधादि) का निग्रह, दण्डो (मन-वचन-काय की क्रिया) का त्याग, इन्द्रियो (स्पर्शन, रसना आदि) की जय को सयम कहा गया है ।[465] वादर सज्वलन कषाय के उदय मे, सूक्ष्म लोभ के उदय मे, मोहनीय का उपशम होने पर और क्षय होने पर सयम भाव नियमपूर्वक होता है, ऐसा जिनेन्द्र द्वारा कहा गया है ।[466] वादर सज्वलन कषाय के उदय मे तीन वादर सयम (सामायिक, छेदोपस्थापना तथा परिहार विशुद्धि) होते हैं । परिहार विशुद्धि सयम प्रमत्त तथा अप्रमत्त सयम गुणस्थानो में होता है । सूक्ष्म लोभ के उदय मे सूक्ष्म सापराय सयम होता है ।[467] पुन मोहनीय के उपशम तथा क्षय से यथाख्यात सयम नियमपूर्वक होता है, ऐसा जिनेन्द्र द्वारा कहा गया है ।[468] तीसरी (प्रत्याख्यानावरण) कषाय के उदय मे युगपत् विरत-अविरत रूप सयमासयम होता है तथा द्वितीय (अप्रत्याख्यानावरण) कषाय के उदय मे नियम से असयम होता है ।[469]

समस्त ही व्रत, समिति आदि को सग्रह करने पर अनुत्तर (जिसमे वड़ा अन्य नही है) दुर्लभ एक यम (सकल सावद्य का त्याग रूप अभेद सयम) को धारण करने वाला सामायिक सयमी होता है ।[470] पूर्व पर्याय को छेद कर जो स्वय को पाँच प्रकार के सयम रूप धर्म मे स्थापित करता है वह छेदोपस्थापक सयमी है ।[471] इसकी टीका प टोडरमल जी ने निम्न प्रकार की है—

"सामायिक चारित्र को धारि, बहुरि प्रमाद तै स्खलित होई, सावद्य क्रिया को प्राप्त हुआ ऐसा जो जीव, पहिले भया जो सावद्य रूप पर्याय ताका प्रायश्चित विधि तै छेदन करि अपने आत्मा को व्रतधारणादि पंच प्रकार संयम रूप धर्म विषै स्थापन करै; सोई छेदोपस्थापन संयमी जानना।

छेद कहिये प्रायश्चित ताहि करि उपस्थापन कहिए धर्म विषै आत्मा कौ स्थापना; सो जाके होई, अथवा छेद कहिए अपने दोष दूर करने के निमित्त पूर्व कीया गया तप, तिसका उस दोष के अनुसारि विच्छेद करना, तिसकरि उपस्थापन कहिए, निर्दोष संयम विषै आत्मा की स्थापना; सो जाकै होई, सो छेदोस्थापन संयमी है। अपना तप का छेद हो हैं, उपस्थापन जाकै; सो छेदोपस्थापन है, ऐसी निरूक्ति जानना।"

पाँच समिति तथा तीन गुप्ति संयुक्त पुरुष जो सदा काल सावद्य (हिंसा) का परिहार (त्याग) करता है वह परिहारक (परिहार विशुद्धि) संयत होता है।[472] जो जन्म से तीस वर्ष का हो (सुख पूर्व रहा हो तथा दीक्षा ग्रहण कर) वर्ष पृथक्त्व (तीन से आठ वर्ष) तक तीर्थंकर के पाद मूल में प्रत्याख्यानपूर्व का पाठी हो, संध्या कालों को छोड़कर दो कोस (सदैव) विहार करे, वह परिहार विशुद्धि संयत होता है।[473] जो उपशामक अथवा क्षपक सूक्ष्म लोभ का वेदन करता है वह यथाख्यात संयम से कुछ कम सूक्ष्म सांपराय संयत होता है।[474] अशुभ रूप मोहनीय कर्म के उपशांत या क्षीण होने पर छद्मस्थ हो या जिन हो, वह यथाख्यात संयत होता है।[475]

पॉच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार प्रकार के शिक्षाव्रत से संयुक्त कर्म निर्जरा का धारक सम्यग्दृष्टि देश विरत कहा गया है।[476] दार्शनिक, व्रतिक, सामयिक, प्रोपधोपवास, सचित विरत, रात्रि-भोजन विरत, ब्रह्मचारी, आरम्भ विरत, परिग्रह विरत, अनुमति विरत और उद्दिष्ट विरत ऐसे (ग्यारह प्रतिमा के भेद वाले) देश विरत हैं।[477]

जो चौदह जीव समास रूप भेदों से एवं अट्ठाईस इन्द्रिय विपयों से विरत नहीं है, उन्हें असंयत जानो।[478] पॉच रस, पॉच वर्ण, दो गंध, आठ स्पर्श, सात स्वर मन सहित अट्ठाईस होते है, इन्हें इन्द्रिय विपय जानो।[479]

प्रमतादि चार गुणस्थानों के जोड़ देने पर सामायिक छेदोपस्थाना संयमियों की संख्या 8,90,99,103 होती है, परिहार विशुद्धि संयमियों की संख्या 6997 है, सूक्ष्म सांपराय संयमी 897 हैं, तथा यथाख्यात संयमी तीन कम नो लाख है।[480] पल्य के असंख्यातवें भाग संयमा-संयमी है। छहों संयमियों को (समस्त) जीव राशि से हटा देने पर शेष असंयमी राशि है।[481]

आचार्य अकलंक ने तत्वार्थ सूत्र की राजवार्तिक टीका के नवें अध्याय के छठे सूत्र की व्याख्या में संयम को उपेक्षा संयम एवं अपहृत संयम के रूप में विभाजित किया है। वे कहते है – संयम दो प्रकार का है—उपेक्षा संयम और अपहृत संयम। देश-काल के विधान को जानने वाले, स्वाभाविक रूप से शरीर से विरक्त, तीन गुप्तियों के धारक के राग-द्वेष रूप चित्त वृत्ति का न होना उपेक्षा संयम है। अपहृत संयम उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है। प्रासुक वसति एवं आहार मात्र है बाह्य साधन जिनके, तथा स्वाधीन है ज्ञान

और चरित्र रूप करण जिनके ऐसे साधु के बाह्य जन्तु के आ जाने पर अपने को बचाते हुए जीव का परिपालन (रक्षा) करना है वह उत्कृष्ट है, मृदु उपकरण से जन्तुओं को बुहार देने वाले के मध्यम एव अन्य उपकरण की इच्छा करने वाले के जघन्य अपहृत सयम होता है ।[15] इस अपहृत सयम के प्रतिपादन के लिए आठ शुद्धियो का उपदेश दिया गया है । वे आठ शुद्धियाँ इस प्रकार हैं —भाव शुद्धि, काय शुद्धि, विनय शुद्धि, ईर्यापथ शुद्धि, भिक्षा शुद्धि, प्रतिष्ठापन शुद्धि, शयनासनशुद्धि और वाक्य शुद्धि ।[16] इन आठ शुद्धियो को सक्षेप मे निम्न प्रकार समझाया गया है—

1 कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न, मुक्ति के मार्ग मे रूचि से प्राप्त प्रसाद (प्रसन्नता, विशुद्धि) वाली, रागादि के उपद्रव से रहित भावशुद्धि है । इसके होने पर आचार शुद्ध की हुई भीत पर चित्र की भाँति चमक जाता है । (2) आवरण और आभरण से रहित, सस्कार से शून्य, यथाजात मल धारण करने वाली, अग विकार से रहित, सर्वत्र प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति वाली, प्रशम सुख को मूर्ति की भाँति प्रदर्शित करती काय शुद्धि है । इसके होने पर न तो अपने को दूसरो से भय उत्पन्न होता है, न दूसरो को अपने से । (3) अर्हन्तादि परमगुरूओं मे यथायोग्य पूजा प्रवण, ज्ञानादि मे यथाविधि भक्तियुक्त, गुरूओं मे अनुकूल वृत्ति वाली, प्रश्न स्वाध्याय मे वाचना, कथा और विज्ञप्ति आदि मे कुशल, देश काल और भाव को समझने मे निपुण तथा आचार्य के अनुमत आचरण करने वाली विनय शुद्धि है । (4) नानाविध जीवस्थान, उनके योनि एव आश्रम स्थान की समझ से उत्पन्न प्रयत्नपूर्वक प्राणियो की पीड़ा को बचाने वाली, ज्ञान, सूर्य और इन्द्रियो के प्रकाश मे देखे प्रदेश मे चलने वाली, शीघ्र धीरे सम्भ्रान्त विस्मयपूर्ण लीला विकार अन्य दिशाओं मे देखना आदि दोषा से रहित गमन करने वाली ईर्यापथशुद्धि है ।

(5) भिक्षा शुद्धि को समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि अलाभ तथा सरस-विरस मे समान सतोष भिक्षा है । गाय की भाँति अन्य वातो पर दृष्टि न होकर आहार ग्रहण करने पर ही ध्यान होने से यह गोचरी या गवेषणा कहलाती है, देह की गाड़ी को समाधिनगर तक पहुँचाने हेतु उसके ओंगन रूप भोजन देने से यहाँ अक्षम्रक्षण कहलाती है, भण्डार मे आग लगने पर गृहस्थी जन शुद्ध-अशुद्ध जल से आग बुझाते हैं, यति भी भोजन से पेट की आग बुझाते हैं अत यह उदराग्निशमन कहलाती है, दाता को भ्रमर की भाति बाधा न पहुचाने से यह भ्रमराहार तथा पेट का गड्ढा भरने से स्वभ्रपूरण कहलाती है । (6) जन्तुओं को बाधा न पहुँचाते हुए देश काल को जानकर मल मूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठापना शुद्धि कहा है । (7) शयासन शुद्धि-गिरी, गुफा या शून्य मकान जो साधु के उद्देश्य से न बनाया गया हो बतायी गई है एव (8) वाक्य शुद्धि उस मधुर वाणी को कहा गया है जिसमे आरम्भ आदि की प्रेरणा न हो, जो निष्ठुर, पर पीड़ा कारक न हो, व्रत-शील आदि का उपदेश देने वाली हित मित तथा मधुर हो ।

अन्त मे, सयम बिना कोई जीव पर-लोक तो सुधार सकता ही नही, इह लोक भी उसका बिगड़ जाता है । वर्तमान युग मे इन्द्रिय विषयो की दासता मे जीव इतना फँस गया है कि विषयो को छोड़ने की बात तो दूर, इन्हे कम करने की बात भी वह सुनना नही चाहता है। भोगो को जीव नही भोग रहा है वरन् भोगो ने ही उसे भोग डाला है । ऐसी स्थिति मे सयम की बात उसे सुहाती नही है, सुन भी लेता है तो जँचती नही है । इन्द्रिय विषयो मे तो जीव सस्कारवश स्वत लग जाता है तथा उनके उपदेशक भी हर जगह उपलब्ध होते है । वे

इसके पूर्व संस्कारों को ही दृढ़ करने में सहायक होते हैं। जैसे पानी का वहाव नीचे की ओर तो सहज हो जाता है लेकिन ऊपर चढ़ाने के लिए पम्प की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इन्द्रिय-विषयों की वासना के संस्कारों को तोड़ने के लिए सत्-समागम एवं सत्-साहित्य का पढ़ना बहुत आवश्यक है। संयम के बिना जीवन ऐसा ही है जैसे बिना ब्रेक के मोटर गाड़ी, वह तो टकरायेगी ही।

हमें अपने जीवन के उत्थान के लिए समझपूर्वक यथाशक्ति संयम ग्रहण करना चाहिए क्योंकि बिना संयम के मुक्ति के पथ पर कदम नहीं बढ़ सकते हैं।

सेठी भवन,
सरावगी मौहल्ला, अजमेर।

❑

व्यास ऋषि और एक कीट का संवाद

व्यास—कीट ! आज तुम बहुत डरे हुए और उतावले दिखायी दे रहे हो, कहाँ भागे जा रहे हो ? कहाँ से तुम्हें भय प्राप्त हुआ है ?

कीट—"महामते ! यह जो बहुत बड़ी बैलगाड़ी आ रही है, इसकी घर्घराहट सुनकर मुझे भय हो गया है; इसकी आवाज बड़ी भयंकर है। इसे सुनकर संदेह होता है कही यह मुझे कुचल न दे।- - - - मेरे जैसे कीड़े के लिये इस भयंकर शब्द को धैर्य पूर्वक सुनना असम्भव है। अतः इस दारुण भय से अपनी रक्षा करने के लिये मैं यहाँ से भाग रहा हूँ।—प्राणियों के लिये मृत्यु बड़ी दुःखदायिनी होती है। जीवन दुर्लभ है। अतः डर कर भागा जा रहा हूँ। कहीं ऐसा न हो कि मैं सुख से दुःख में पड़ जाऊँ।"

व्यास—"कीट ! तुम्हे सुख कहाँ है ? तुम्हें तो मरने में ही सुख है, तुम कीट योनि में पड़े हो। हे कीट ! तुम्हे शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध तथा बहुत से छोटे-बड़े भागों का अनुभव नहीं होता है। तुम्हारा तो मरना ही अच्छा है।"

कीट—महाप्राज्ञ ! जीव सर्वत्र अपने सुख में रत है। इस योनि में भी मुझे सुख है और यही सोचकर जीवित रहना चाहता हूँ। यहाँ भी देह के अनुसार सब विषय उपलब्ध होते हैं। मनुष्यों और स्थावर प्राणियों के भोग भिन्न-भिन्न हैं। प्रभो ! मैं [पूर्वजन्म में] अब्राह्मण, नृशंस, कंजूस, ब्याज खाने वाला धनी शूद्र मनुष्य था। तीखे वचन बोलना, बुद्धिमानी से लोगों को ठगना, द्वेष करना मेरा स्वभाव हो गया था। झूठ बोलकर लोगों को ठगना और दूसरों का माल हड़प लेने में मैं लगा रहता था। - - -

महाभारत 170वाँ अध्याय 9/20

पोरफिरी का ग्रन्थ : "माँसाहार से निवृत्ति" एक परिचय

☐ ज्ञानचन्द बिल्टीवाला

इस वर्ष 5-6 जनवरी को राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर मे यू जी सी के तत्त्वावधान मे प्रो दयाकृष्ण, (भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग) के निर्देशन मे शाकाहार पर एक सगोष्ठी आयोजित हुई थी । फोनेशिया के दार्शनिक पोरफिरी (जन्म 233 ई) का ग्रन्थ 'On abstinence from animal food को इस सगोष्ठी का आधार ग्रन्थ बनाया गया था । लन्दन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रिचर्ड सोरावजी, जो यूनानी दर्शन के अधिकारी विद्वान हैं, ने इस सगोष्ठी की अध्यक्षता की थी ।

ग्रन्थ केवल मासाहार के त्याग का ही सशक्त रूप से समर्थन नही करता वरन् माँसाहार और पशुवलि को मानव समाज मे कुछ काल पूर्व दुर्भिक्ष और युद्धो के कारण उत्पन्न हुई एक विकृति बताता है । लेखक ने विस्तार से सिद्ध किया है कि प्राचीन काल मे मानव अहिसक एव शाकाहारी ही था एव देव पूजा अन्न-फल आदि से करता था । पर्वत, वसु आदि से पशु वलि आरम्भ होने की भारतीय पुराणो की चर्चा के अनुरूप ही पोरफिरी भी घटना और व्यक्ति विशेषो से पशु वलि की आपराधिक, पापमयी प्रवृत्ति का आरम्भ चित्रित करता है और अनको ही यूनानी दार्शनिक विद्वानो द्वारा इस सम्वन्ध मे खेद किये जाने का उल्लेख करता है ।

ग्रन्थ का सम्पादक टाइसन हम बताता है कि ईसाई शासक कान्सटेन्टाइन, थियोडोसियस, जस्टीनियन आदि ने यूनानी दार्शनिक चिन्तन/शिक्षण पर रोक लगाई, उनके विद्यालय वन्द कर दिये । परिणाम स्वरूप यूरोप मे अँधेरा युग आया । वैज्ञानिक पुनर्जागरण फिर हुआ तो भौतिक क्षेत्र मे ही हुआ । आध्यात्मिक क्षेत्र मे पुनर्जागरण टाइसन के अनुसार अभी शेप ही है, और इस हेतु उनका मानना ह कि पोरफिरी आज वुहत प्रासगिक हो गया है। पश्चिम मे पोरफिरी के शाकाहार, अहिसा, अपरिग्रह, अध्यात्म मे रूचि होना, उनको पर्यावरणीय प्रदूषण का इलाज स्वीकार करना, समूची श्रमण परम्परा/चिन्तन/वोध की उपादेयता की स्वीकृति है । इस दृष्टि से पोरफिरी पूर्व के लिये भी आज रूचि का विषय ह कि अहिसा अध्यात्म की तीर्थंकरो की श्रमण परम्परा, उनकी जीवनशैली केवल भारत की भौगोलिक सीमा म वद्ध नही थी, वरन् दूर-दूर यूनान, मिश्र आदि देशो मे प्राचीन काल मे वस्तुत फैली हुई थी, यह ग्रन्थ पढ़ने से प्रकट लगता है । अस्तु- यहाँ हम सम्पादकीय एव मूल से कुछ अशो का अनुवाद पाठको के परिचय हेतु दे रहे हैं । वस्तुत पूरा ग्रन्थ ही अहिसा प्रेमी अध्यात्म रसिको के पठन हेतु हिन्दी मे अनूदित होने योग्य है ।

सम्पादक टाइसन द्वारा पुस्तक की भूमिका के अंश–

पृ. 6 ईसाई शासक कान्सटेन्टाइन ने अपने पत्र में लिखा है–

"वास्तविक धार्मिकता के शत्रु पोरफिरी को धर्म के विरुद्ध अपने अपवित्र लेखन के लिए योग्य पुरस्कार मिल गया है, कि वह समस्त भविष्य काल के लिये वदनाम कर दिया गया है और भर्त्सना से लिपेट दिया गया है तथा उसकी अपवित्र पुस्तकें नष्ट कर दी गई हैं ।"

दूसरे शासक थियोडोसियस कनिष्ठ ने पोरफिरी के वचे-खुचे ग्रन्थों के अन्त के आदेश प्रसारित किये ।

"ये धर्म के विरुद्ध नहीं थे, जैसा कि कान्सटेन्टाइन कहता है, वरन् अपने समय की संस्था (establishment) के मिथ्या एवं अमानवीय शिक्षा के विरूद्ध थे ।"

पृ. 7 पोरफिरी और अन्य नवप्लेटोवादी (Neoplatonists) दार्शनिक जिस रहस्यवाद/अध्यात्मवाद (Mysticism) का प्रतिपादन करते थे वह परम्परागत (orthodox) धर्म के जनता पर प्रभाव के लिये खतरा था । "यदि मानव अपने दिव्य उद्गम के समीप सीधा जा सकता है तो चर्च की मध्यस्थता की क्या आवश्यकता रह जाती है ? चर्च का मुख्य कर्त्तव्य राज्य के सहयोग से पृथ्वी पर जनता के व्यवस्थित व्यवहार को सुनिश्चित करना है; जव कि आध्यात्मिक व्यक्ति (mystic) का एक उद्देश्य मृत्यु अस्तित्व से ही परे जाना है ।"

पृ. 8 "पोरफिरी का प्रवन्ध (पुस्तक) फर्मस् नामक पुराने शिष्य को सम्वोधित किया गया, जो कहा जाता है कि मॉस खाने और शराव पीने की आजादी पुनः प्राप्त करने हेतु ईसाई हो गया था । वह फर्मस का यह कह कर प्रतिरोध करता है कि मॉस और शराव के ग्रहण का त्याग आत्मा और शरीर दोनों के स्वास्थ्य को कायम रखता है, कि व्यक्ति दीर्घजीवी होता है और अधिक निरपराध रूप से जीता है ।"

"वह (पोरफिरी) दूसरे जानवरों को हमारा भाई मानता है क्योंकि उनमें भी वैसा ही जीवन है जैसा हम में है. वे जीवन के हमारे समान ही तत्त्व (Principles) रखते हैं, समान भाव, समान विचार, स्मृति, चेष्टा रखते है । [मानवीय] वाणी की उनमें कमी है । यदि यह उनमें होती तो क्या हम उन्हें मारने और खाने का साहस कर सकते थे ? क्या हमें यह भ्रातृ हत्यायें करनी चाहिये ? वह कौन जंगली है जो एक मेमने का कत्ल करेगा और भूनेगा जवकि वह मेमना एक प्रभावशाली प्रार्थना में निवेदन करता है कि वह एक दम हत्यारा और स्वजाति भक्षक न वने ?"

पृ. 9 "मांसाहार का त्याग" प्रारम्भिक रूप से चार पुस्तकों (Volumes) में थी । प्रथम में पोरफिरी अपने मित्र के हानिरहित आहार की सत्य दार्शनिक आदत से [illegible] पर खेद प्रकट करता है । फिर मांस त्याग के विरुद्ध दूसरे [illegible] दार्शनिकों द्वारा दिये जाने वाले तर्कों को निष्पक्ष रूप में (Faults) देते हुए [illegible] को समझाना चाहता है कि [illegible] । [illegible]

[illegible]

वलि नही चढायी जानी चाहिए, जो हमसे केवल आन्तरिक शुद्धि की अदृश्य बलि की माँग करता है। पुस्तक 3 मे वह विषय का न्याय और मानवता की दृष्टि मे पुनरावलोकन करता है। पुस्तक 4 मे वह माँसाहार का त्याग का पालन करने वाले राष्ट्रो के सम्वन्ध मे लिखन का प्रस्ताव करता हे और प्रसिद्ध यूनानी और रोमवासियो के उदाहरण देने का भी, जिन्होंने अहिसक (Harmless) आहार ग्रहण किया था।"

"दुर्भाग्य से इस योजना के अन्तिम भाग को कार्यान्वित किया जाता उसके पूर्व अचानक ही पुस्तक समाप्ति पर आ जाती है और सभाव्य है कि आधा परिच्छेद खो गया है या नष्ट कर दिया गया है। फिर भी जो शेष है वह अत्यन्त रुचिकर है, पोरफिरी के काल के सभ्य जगत मे प्राप्त अनेक प्रकार के प्राचीन रीति-रिवाज, धर्म, विश्वास का ऐतिहासिक रूप मे वर्णन करता है।"

"इस प्रवन्ध के पूरी तरह मूल्याकन करने के लिये उन लोगो की जो घृणास्पद रूप से प्राय नास्तिक" (the Pagans) कहे जाते है, कुछ दार्शनिक भूमिका तथा जीवन दृष्टि समझना आवश्यक है यद्यपि इनमे विश्व के ज्ञात महान चिन्तक शामिल है, उन ही मे से पाइथागोरस, एम्पीडोकिल्स, सुकरात ओर प्लेटो है, लेकिन वर्तमान युग के वहुत कम लोगो को यह समझ है कि उन लोगो के द्वारा जो मानवता पर भिन्न दर्शन थोपने मे प्रयत्नशील थे, चतुराई और अध्यवसाय से यह सूचना गलत चित्रित की गई छिपायी गयी अथवा विस्मृति मे जान दी गयी।"

पृ 10 " यह पाइथोगोरसी दृष्टि 'मेटामोरफोसिस' की 15वी पुस्तक मे ओविड से अधिक अच्छी प्रकार नही प्रस्तुत की जा सकती थी, जहाँ वह प्राचीन दार्शनिको को यह कहते हुए चित्रित करता है–

'हमारी आत्माये अमर है, ओर हमेशा नये घरो मे ग्रहण होती ह, जहाँ वे जीती है और रहती है, जव उन्होने पूर्व के निवास छोड़ दिये हो सव चीजे वदलती हे, मरती कुछ नही, आत्मा (Spirit) इधर-उधर भटकती है, जो अग चाहती हे ग्रहण करती है, पशु से मानव वन जाती है, या मानव आत्मा पशु मे प्रवेश कर जाती हे, लेकिन यह कभी नष्ट नही होती।
अफसोस, अपने माँस मे माँस निगल जाना, दूसरे की देह को निगल कर अपनी लालची देहो को मोटा करना, एक जीवित प्राणी का दूसरे की मृत्यु से पेट भरना–कैसी दुष्टता है।"

पृ 11 "यद्यपि, जेसा वाल्टेर इगित करता है, मॉसविहीन आहार के तर्कों मे पोरफिरी ने पुनर्जन्म के तर्क को शामिल नही किया है, तृतीय एनमीड मे लेखाश से यह स्पष्ट है कि वह और उसका गुरू (प्लाटिनस) इस सिद्धान्त का समर्थन करते थे, जो इस प्रकार हे

"मानवता देवताओं आर पशुओं के वीच मे मधी हुई ह और कभी एक स्तर (order) की आर झुकती है, कभी दूसरी आर। कुछ लोग देवता समान हो जाते ह, दूसरे पशु समान, अत्यधिक सख्या तटस्थ रहती ह जव जीवन तत्त्व देह छोड़ता है तो, जो उसने अत्यधिक गहनता से जिया है वह हो जाता ह। जिन्होंने मानव स्तर बनाये रखा वे एक वार पुन मनुष्य हो जाते हैं। जो पूर्णतया इन्द्रिय रूप मे रहे पशु हो जाते ह जो अपने सुखो मे तन्द्रालु स्थूलता मे जिये मुख्य रूप से वर्धन का तत्त्व (vegetative principle) ही उनमे सक्रिय था, और ऐसे मानव अपन आपको पेड़ वनाने मे व्यस्त रहे है।

"यह शुद्ध पाइथोगोरसवाद है जो प्लेटो, जिसने सिखाया कि केवल दार्शनिक जो वर्तमान में देह के वनिस्पत वुद्धि (mind) के लिये और वुद्धि में जिया है, अन्तहीन जन्म-मरण (becoming) के क्रम (Process) से वच सकता है और शुद्ध सत्ता (being) को प्राप्त कर सकता है, की शिक्षा में विद्यमान रहा । 'रिप्वलिक' में, जहाँ सुकरात एल्सीनूस के पुत्र अर के आख्यान में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का पुनर्कथन करता है, हम पाते हैं–

"यदि कोई मनुष्य जव भी इस जगत में आता है, हमेशा स्थिरतापूर्वक दर्शनशास्त्र का अनुसरण करता है –यह लगता है कि..... केवल यही नही कि इस जीवन में ही वह सुखी होगा, वरन् कि यहाँ से दूसरे जगत को और वापिस इस जगत को उसकी यात्रा खुरदरी और जमीन के नीचे के रास्तों से नहीं होगी, वल्कि समतल और स्वर्गिक रास्तों से होगी ।"

पृ. 13. "दुर्भाग्य से, जस्टीनियन द्वारा एथेन्स के विद्यालय को वन्द करने के साथ ही दर्शन और धर्म का वास्तविक अर्थ पथ से हट जाने को (give way) वाध्य किया गया और तर्क (Reason) वना, जिनसे पुनर्जागरण (Renaissance) के वावजूद पश्चिमी जगत तात्त्विक रूप से कभी भी ऊवर नहीं सका है । अपनी पुस्तक 'दी नियो-प्लाटोनिस्ट' में थामस विटेकर जस्टीनियन के सम्वन्ध में लिखता है –

"अपनी नियमावली (Code) की समाप्ति के पूर्व .... आध्यात्मिक क्षेत्र में एकरूपता लाने के लिये वह एक आज्ञा प्रसारित कर चुका था । अव तक प्राचीन धर्मों की औपचारिक निषेधाज्ञा के वावजूद भी एथेन्स में दार्शनिकों ने सैद्धान्तिक प्रश्नों पर ईसाई मान्यताओं का विरोध करने की स्वतन्त्रता कायम कर रखी थी । यह वात प्रोक्लस की एक पुस्तिका जिसमें सृष्टि (Creation) के ईसाई सिद्धान्त के विरूद्ध जगत की शाश्वतता (Prepetuity) के पक्ष में तर्क स्थापित किया गया है, को जारी कर सका से स्पष्ट है...... 529 में उसने "(जस्टीनियन ने)" कानून वनाया कि 'अव से कोई भी प्राचीन दर्शन का शिक्षण न करें ।' दार्शनिक चिन्तन की स्वतन्त्रता को अव सर्वत्र ईसाई चर्च द्वारा निर्दिष्ट सीमा मे वद्ध कर दिया गया ।"

पोरफिरी अपनी पुस्तक के सम्वन्ध में लिखता है–

"मैं उस मानव के लिये लिखता हूँ जो विचारता है कि वह क्या है, कहाँ से आया; और उसे किधर अभिमुख होना चाहिए......... जो हमारे वर्तमान जीवन में से हमारी यात्रा में उपस्थित प्रलोभनों पर तथा जिस जगह में हम रहते हैं उसके अपनत्व (belonging) पर एक वार सन्देह करता है, जो स्वयं को स्वाभाविक रूप से सावधान देखता है और जिस प्रदेश में वह रहता है उसकी निद्रालु प्रकृति पर विचार करता है ।"

पृ. 24 "वह फर्मस को दार्शनिक जीवन के मूल उद्देश्य, जो जिस राज्य से हम भटक गये को लौट जाना है, का स्मरण कराता है,...... "यह आवश्यक है, यदि हम उन चीजों को लौटाना चाहते हैं जो सत्य रूप से हमारी अपनी है, कि हमें मृत्यु प्रकृति की प्रत्येक वस्तु जो हमने आसक्तिपूर्ण अनुराग के साथ धारण कर ली हो तथा जो (इस पार्थिव प्रदेश में) हमारे अवतरण का कारण है, मैं स्वयं को रहित (divest) कर लेना चाहिए ।"

ओलम्पिक खेलो के रूपक को काम मे लेते हुए वह कहता है, "हमे स्टेडियम मे नग्न और विवस्त्र, आत्मा के ओलम्पिया हेतु प्रयत्न करते हुए प्रवेश करना चाहिए।"

"दीक्षित व्यक्ति के लिये आवश्यक नग्नता की अवस्था का सकेत इस बात मे रूचिपूर्ण है कि यह विचार प्राग्-पाइथोगोरसी रहस्यवादी धर्म से उत्पन्न होता है। यह बाद मे मिथ्रास के रहस्यो (Mysteries) की विशेषता थी जिसने ईसाई आलोचको को, जिन्होने वर्णन किया है कि मिथ्रास के सैनिक दीक्षा की गुफा से नग्न निकले, बहुत सदमा पहुँचाया। काफी विचित्र रूप से यह प्रतीकात्मक अनुष्ठान फ्रीमेसनरी (गुप्त ससद) मे भी बनाये रखा गया लगता है। 'माँसाहार-त्याग' के पृ 99 की पाद टिप्पणी मे इस विचार की स्पष्ट व्याख्या प्राप्त होती है जहाँ पाइथागोरसी डेमोफिलीस कहते हुए उद्धृत किया गया है कि "बुद्धिमान आदमी को यहा नग्न भेजा जाने से भेजने वाले का नग्न रूप ही आह्वान करना चाहिए, क्योंकि जो विजातीय प्रकृति की चीजो से नही लदा हुआ है केवल वह ही देवत्व द्वारा सुना जाता है।"

पृ 15 "पोरफिरी की दूसरी पुस्तक मे पोरफिरी पशुबलि के और माँसाहार के सम्बन्ध मे चर्चा करता है। यह हमे शुद्ध रूप से अकादमीय विषय लग सकता है जब तक कि हम याद न करे कि एसकुलापियस की आधुनिक वेदियो, वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं मे अनेक लाखो जानवर प्रतिवर्ष बलि चढ़ाये जाते है।

पशुबलि के सम्बन्ध मे उसके जिगर आदि अगो से भविष्य की सूचनाये प्राप्त होने के सम्बन्ध मे पोरफिरी कहता है–"लेकिन वह (दार्शनिक) स्वय के द्वारा परमात्मा के, जो उसी के अन्तरग मे स्थित है, निकट पहुँचते हुए शाश्वत जीवन के उपदेश वहाँ से प्राप्त करता है।" अर्थात् उसे बलि से कोई भविष्य की सूचनाओं की आवश्यकता नही है।

"इस पुस्तक मे वह यह भी देखता है कि मानव के दु खा का आरम्भ तब हुआ जब वह पाईथोगोरसी स्वर्ण युग के सादे जीवन, जो फल और बाजफल (acorns) के आहार को शामिल करता था, से अलग हुआ और पशुओं के साथ हस्तक्षेप करने लगा। इस समय के पूर्व देवता और देवियो को सब चढ़ावा सादा, शुद्ध और रक्तहीन था–कुछ घासे, पत्तियाँ या फूल, लेकिन रक्त के प्रथम बहाव के साथ मानव जाति का पतन आरम्भ हो गया था।"

"उसके तर्क अनिवार्य निष्कर्ष को ले गये कि पशुबलि परमात्मा की इच्छा के अनुरूप नही है जैसा कि सामान्य रूप से माना गया, (वरन्) "सर्वोत्तम" चढ़ावा तो शुद्ध बुद्धि और निष्कपट आत्मा है।"

पृ 17 इस पुस्तक मे वह पाईथोगोरस के प्रिय तर्क का भी प्रयोग करता है कि "जो किसी जीवित वस्तु से परहेज करता है अपनी जाति को हानि न पहुँचाने मे बहुत अधिक सावधान रहेगा क्योंकि जो वश (genus) से प्रेम करता है वह किसी भी पशु जगत से घृणा नही करेगा बेसारिया के लोगो की तरह, जो केवल साँडो को ही कतल नही करते हैं अपितु कत्ल किये गये आदमी का भी माँस खाते ह। वह सीथियन लोगो के बारे मे कथन करता है जो अपने माता पिता को वृद्ध होने पर प्राकृतिक रूप से मरने के अपमान से बचाने के लिये खा जाते हैं और अकाल और युद्ध के समय प्राय किये जाने वाले मनुष्य भक्षण का भी।"

"अन्तिम पुस्तक में दूसरे राष्ट्रों के रिवाजों के बारे में पोरफिरी के पास बहुत कहने को है । वह लाइकरगस द्वारा स्थापित एकतन्त्री शासन वाले स्पार्टा में कठोर जीवन का वर्णन करता है, जहाँ अत्यधिक संयत खान-पान और बड़ी कठोरता (austerity) ने आबादी के तगड़ेपन (hardiness) में योगदान किया ।..........."

"मानव मस्तिष्क जो अपनी तात्त्विक मान्यता को पुनः सोचना-पड़ना सब से अधिक नापसन्द करता है, के आलस्य के कारण विकासवाद के सिद्धान्त के डार्विन के पुनरुद्धार ने उस निद्रा सम्मोहन से, जिसे पोरफिरी इतनी अच्छी तरह समझता था, मानव जाति को जगाने में कुछ भी नहीं किया । इसके अतिरिक्त, यह किन्हीं निहित स्वार्थों की सम्पन्नता अथवा उनके बने रहने के लिये भी आवश्यक है कि मानव जाति विश्वास करे कि इस जगत में सब कुछ मानव वर्ग के स्वार्थ साधन के लिये बनाया गया था और कोई सिद्धान्त जो मानव के इस उपयोगितावादी 'अधिकार' का निषेध करता है लोकप्रिय नहीं होता । लेकिन क्योंकि इस विश्वास के परिणाम ने जगत को वर्तमान अवस्था में ला दिया जहाँ, केवल एक उदाहरण देने हेतु, पारिस्थितिकी (ecological) असन्तुलन के परिणाम विश्वव्यापी बड़ी समस्या बन गये हैं, इसका संशोधन अत्यधिक महत्त्व का लगेगा और पोरफिरी की युक्तिसंगत वकालत वर्तमान काल में विशिष्ट रूप से उपयुक्त है ।"

प्रथम पुस्तक के अंश-परिच्छेद

33 "दो श्रोत हैं जिनकी धारायें शरीर से आत्मा को बाँधने वाले बंधनों को सींचती है; और आत्मा उनसे मानों जहरीली खुराक से मरकर अपने चिन्तन-मनन-ध्यान के सम्यक् पदार्थों को भूल जाती है । ये श्रोत सुख और दुःख हैं; जिनका इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, कल्पना, राय, (opinion) स्मृतियों के साथ वास्तव में प्रारंभ रूप हैं । किन्तु इनसे वासनायें/कषायें उत्तेजित हो जाने से और सारी अनात्मीय/अबौद्धिक (Irrational) प्रकृति स्थूल/पुष्ट हो जाने से, आत्मा नीचे खींची जाती है और अपने सत्य अस्तित्व की सम्यक् प्रीति छोड़ देती है ।........... किन्तु इन्द्रियाँ जो दृश्य पदार्थ पर, या सुनने के, या चखने के, या सूँघने के या स्पर्श के पदार्थ पर उपयुक्त की जाती है, की राजधानी है । अतः हमें विचार करना चाहिये कि कषायों का कितना ईंधन प्रत्येक इन्द्रिय से हम में प्रवेश करता है ।"

34. "क्योंकि आत्मा इन सब औदयिक (irrational) भाग द्वारा अति जोश (Bacchic fury) से उत्तेजित होकर उछलता है, चीखता-चिल्लाता है, बाह्य शोरगुल आन्तरिक द्वारा प्रेरित होता है और वह प्रथम इन्द्रिय से उत्तेजित हुआ था ।" गाली आदि सुनकर अति क्रोध करता है, सुगन्धित पदार्थ से प्रेम करता है । स्वाद के सम्बन्ध में "खास तौर से द्विविध बन्धनों की पेचीदगी है; एक तो स्वाद से उत्तेजित होकर वासनायें पुष्ट होती हैं और दूसरी अन्यों (Foreign) की देह के प्रवेश से हम [उन्हें] भारी और शक्तिशाली कर देते हैं । कुछ चिकित्सकों ने कहा है कि वे ही जहर नहीं होते जो चिकित्सा पद्धति से तैयार किये जाते हैं, लेकिन वे भी जो हम भोजन मान लेते हैं, दोनों जो हम खाते और पीते हैं में, और इससे आत्मा को, शरीर को नष्ट करने हेतु तैयार किये गये जहरों से भी, ज्यादा [illegible] किये जाते

है। और स्पर्श की वात, यह तो आत्मा को शरीर मे वदलने के अतिरिक्त सव करता है और इन सवसे, एकत्रित की गई स्मृतियाँ, कल्पनाये, रायो, कपायो का समूह जैसे भय, इच्छा, क्रोध, प्रेम, कामवासना, पीड़ा, सवेग, चिन्ता (उत्कठा) और रोग आत्मा को ऐसे ही विक्षोभो से भरने के कारण होते हैं।"

35 "अत, इनसे शुद्ध होना अत्यन्त कठिन है और वड़ा सघर्ष चाहता है, और हम रात और दिन दोनो मे इन पर ध्यान देने से मुक्त होने हेतु वहुत श्रम करना है, और यह इसलिये कि हम आवश्यक रूप से इन्द्रियो से गुँथे हुए हैं। इससे ही, जहाँ तक सभव हो, हम उन जगहो से जहाँ, अनिच्छुक रूप से ही, हमे यह विरोधी भीड़ प्राप्त हो, अपने आपको हटा लेना चाहिए।"

□

महावीर तेरी आज वहुत जरूरत है

उस समय जव तुमने
स्व को जान लिया
ससार असार है सच मे
जव यह पहचान लिया
पहले कचन सी काया का
तूने छोड़ दिया मोह
कचन को तपाते अग्नि मे
वैसे ही तपकर तपाया निज को
राग, द्वेप, कपायो का
तप साधना कर किया शमन
इसके वाद एक के वाद एक
क्रोध, मोह, परिग्रह का किया दमन
उस योग के लाग भी तुम्हे
उस योग मे न पहचान सके
सच तो यह है कि 'चकमक' कि
केवल ज्ञान पाने के वाद ही तुम्हे जान सके
जीयो और जीने दो का
तुमने ही उपदेश दिया था

तन नश्वर है अमर आत्मा
इसका तुमने ही शखनाद किया था
आज यह कैसी विडम्वना है कि
सुवह को मदिर मे प्रक्षाल
उनकी ही सताने शाम को
मदिरालय की सीढ़ी चढ़ जाती हैं
भूल जाते हैं उस समय
मदिर की मूरत को उसके पल
जिसकी पूजा की थी, केसर तिलक
वगुले की तरह शीस झुकाया था
अव गर तुम होते तो सच कहता हूँ
ऐसे जो तेरे वदे है उनको देख
सोचता हूँ कि इस पथ भटकी
नव पीढ़ी को कोन दिशा दिखाये
कौन कुपथ आर सुपथ का अन्तर समझाये
वहाने क्या है ? क्या इसे ही कहते कुदरत है
वर्तमान के इस अन्धे युग को 'चकमक'
है। महावीर तेरी आज वहुत जरूरत है।

प्रेमचद राका 'चकमक'
गुलावपुरा (भीलवाड़ा)

तृतीय खण्ड

साहित्य एवं पुरातत्त्व

1.	जैन साहित्य : इक्कीसवीं सदी	प्रो. लक्ष्मीनारायण दुवे	1
2.	स्वामी समन्तभद्र और उनका रत्नकरण्ड श्रावकाचार	लादूलाल जैन	5
3.	यूनानी दर्शन और जैन दर्शन	डॉ. रमेश चन्द्र जैन	10
4.	जैन कीर्ति स्तम्भ चित्तौड़	रामवल्लभ सोमानी	19
5.	महायोगी गोम्मटेश्वर वाहुवली	डॉ. प्रेमचन्द रांवका	21
6.	जैन व्रत और पर्व	डॉ. शीतलचन्द्र जैन	25
7	एक अप्रतिम-सरस्वती	डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी	29
8.	सीताहरण रास	डॉ. गंगाराम गर्ग	32
9.	अद्भुत वास्तुकला का अद्भुत तीर्थ-श्रीमहावीरजी	कमल किशोर जैन	37
10.	नीलकंठ के तीर्थंकर	महेन्द्र कुमार पाटनी	40

जैन साहित्य : इक्कीसवीं सदी

☐ प्रोफेसर लक्ष्मीनारायण दुबे

जैन साहित्य कम-से-कम ढाई सहस्र वर्ष प्राचीन और समृद्ध है । जो इतनी सुदीर्घ यात्रा सफलता, सार्थकता तथा मांगलिक रूप में सम्पन्न कर चुका हो - उसे इक्कीसवीं सदी या भविष्य की क्या चिंता ? जिसका वर्तमान सुदृढ़ होता है उसका भविष्य भी मजबूत होता है । वैसे विक्रम सम्वत् की दृष्टि से तो हम इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश कर चुके हैं परन्तु ईसा सम्वत् की दृष्टि से वीसवीं शताब्दी बूढ़ी हो चली है और अपने अंतिम दशक में प्रवेश कर चुकी है । इक्कीसवीं सदी की आहट सुनाई पड़ने लगी है ।

इक्कीसवीं सदी का सन्दर्भ, जैन वाङ्मय के परिप्रेक्ष्य में इसलिए उत्पन्न हुआ कि हम जैन साहित्य की प्रासंगिकता, युगानुकूलता तथा उपादेयता के प्रति अधिक आग्रही हों, उसको विवेच्य शताब्दी की पृष्ठभूमि में मूल्यांकित करें और भावी की आवश्यकताओं के अनुरूप उसको रेखांकित करें । एक ओर जबकि वीसवीं शताब्दी को ज्ञान के विस्फोट की सदी माना गया है तो इक्कीसवीं शताब्दी की क्या स्थिति होगी ? इसकी हम भलीभांति परिकल्पना कर सकते हैं। इसके साथ ही हमें इस तथ्य का विस्मरण नहीं करना चाहिए कि जैन धर्म ज्ञानमार्गी है, अतएव, इसके समायोजन तथा अनुकूलन में हमें कोई असुविधा प्रतीत नहीं होती ।

इक्कीसवीं सदी विज्ञान, प्रौद्योगिकी, जनसंचार के माध्यमों की प्रमुखता तथा आधिपत्य की विकसित तथा सम्वर्द्धित स्थिति की परिचायिका है । इस परिप्रेक्ष्य में जैन साहित्य की सन्दर्भानुकूलता को रेखांकित करना समीचीन स्वम् आवश्यक प्रतीत होता है । जैन दर्शन पूर्व में ही विज्ञान के तत्वों को समाहित किये हुए है । जैनों का स्याद्वाद अथवा अनेकांतवाद ही वैज्ञानिक आइन्स्टीन का सापेक्षवाद है । जैनों का परमाणुवाद आज के विज्ञान द्वारा सम्पुष्ट है । जैन साहित्य अनेकांतवाद को वीज के रूप में स्वीकार करता है । जैन साहित्य की अहिंसा आतंकवाद का समाधान है और साम्प्रदायिक विद्वेष, दंगे तथा उपद्रवों का समाधान स्याद्वाद में मिलता है ।

जैन साहित्य जैन धर्म, श्रमण संस्कृति तथा जैनागम के मूल तत्वों की अभिव्यंजना है । सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र के मोक्ष के तीन मार्गों को स्वीकार करके, जैन साहित्य और संस्कृति इक्कीसवीं सदी में मानव को सच्चिदानंद मोक्ष की ओर 'चरैवेति चरैवेति' का मूलमंत्र प्रदान करेगी । जैन साहित्य आत्मशुद्धि के आनन्द को तपस्या के माध्यम से आगामी शताब्दी में भास्वर रूप में प्रस्फुटित करने में समर्थ हो सकेगा । जैन साहित्य का [illegible] स्वरूप और उसके जीवन मूल्य अधिक आकर्षण के केन्द्र बन सकेंगे । इक्कीसवीं शताब्दी

लोकतान्त्रिक मानसिकता तथा समाजवादी सोच के आधिक्य की सदी है और महावीर के सिद्धान्त तथा अपरिग्रह इस क्षेत्र मे परम उपादेय एव अनुकूल हैं । भगवान महावीर स्वामी ने अन्त क्राति की थी । उन्होंने स्व को जाग्रत किया । वे जन जन के मानस मे अत क्राति के स्फुलिग छोड़ गये । ये ही स्फुलिंग जैन साहित्य के पाथेय बने और उनकी व्यावहारिकता तथा मनोहरता को इक्कीसवी सदी मे अधिक द्युति प्राप्त होगी । इक्कीसवी सदी जैन दर्शन को जनदर्शन बनाने मे सहायक होगी क्योंकि भगवान महावीर के व्यक्तित्व मे कहीं भी हाहाकार, दौड़ धूप, मारकाट आदि नही है । इक्कीसवी शताब्दी मे जो वितण्डावाद, प्रवचना, विडम्बना, छल छद्म भागमभाग, हत्या, हिसा के परिवेश को जो प्रोत्साहन मिलेगा - उसमे महावीर के व्यक्तित्व की अनत शाति और वीतराग विज्ञान की विराटता के माधुर्य, आलेप मिलेगा । महावीर के युग म 363 मत-मतातर थे । यही स्थिति 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना ' इक्कीसवी सदी की भी है ।

महावीर स्वामी जैन साहित्य के केन्द्र मे हैं । वे स्व महान् विज्ञानवेत्ता थे । उन्होंने बाहर वर्ष तक अनवरत् रूप मे सचेतना के स्तर पर वैज्ञानिक प्रयोग किये । जैन वाङ्मय के इस अमृत तत्व की इक्कीसवी शताब्दी के विपाक्त परिवेश को परमावश्यकता है ।

इक्कीसवी शताब्दी व्यक्तिपूजक अथवा जातिपूजक न होकर, गुणपूजक के स्वरूप को सवृद्धि प्रदान करने वाली है । यही मूल स्थिति जैन साहित्य की भी है । जैनियो के नमस्कार मत्र मे न महावीर की वदना है और न पार्श्वनाथ की । उसमे पच परमेष्ठियो को नमन किया गया है ।

यूरोप मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य का विकास चौदहवी शताब्दी के सास्कृतिक पुनजागरण काल से शुरू होता है । औद्योगिकता, यान्त्रिकता तथा वैज्ञानिकता ने युद्ध-उन्माद तथा समर की असि को पैना कर दिया । **महावीर स्वामी ने 'हम सब एक है' न कहकर, 'हम सब एक से हैं' का उद्घोष देकर, व्यक्ति स्वातन्त्र्य के साथ ही साथ समता को भी स्थापित किया** ।इसी प्रकार महावीर युद्ध क्षेत्र के अतिवीर न होकर, धर्मक्षेत्र के वीर थे । वे स्वय को जीतने तथा अपने विकारो को शमित करने की बात कहते है । इक्कीसवी शताब्दी का जैन साहित्य इन धवल विन्दुओं को निरुपित कर अपनी युगसधि तथा मानव मैत्री को स्थापित करने मे पूर्ण सफल हो सकेगा । जैन साहित्य शत्रु की नही अपितु शत्रुता के विनाश के प्रति बल देता है ।

आधुनिक विचारधारा अवतारवाद के पक्ष मे नही है । इक्कीसवी शताब्दी इस बात मे सुधातत्व का अन्वेषण करेगी कि नर से नारायण बना कैसे जा सकता है । यह भाव जैन साहित्य मे सर्वत्र प्राप्तव्य हें । यह अवधारणा इक्कीसवी शदी को सोच तथा मनन के लिए बड़ी सटीक तथा अनुकूल है ।

जैन साहित्य मूलत प्राकृत मे है । प्राकृत और अपभ्रश का अधिकतर साहित्य जैन साहित्य है । सस्कृत मे लगभग पाच सौ लेखको की लगभग दो हजार जैन रचनाए मिलती है । जैन शासन के सबसे पुराने आगम ग्रन्थ 46 माने जाते है । जैन परम्परा मे 63 शलाका महापुरुष माने गये है । इनको लेकर विशाल पुराण साहित्य लिखा गया है । भारत की सस्कृति, परम्परा, दार्शनिक विचार, भाषा शैली आदि की दृष्टि से ये पुराण बहुत महत्वपूर्ण है । दिगम्बर सम्प्रदाय मे षटखण्डागम को प्राचीन माना जाता है । लगभग दो हजार वर्ष की आचार्य परम्परा

में जैन आचार्यों ने ग्रन्थ-रचना की है। ज्योतिष, छंद, अलंकार, काव्य, आयुर्वेद, व्याकरण, दर्शन, आचार, चरित्र, जाति, गीत आदि ऐसा कोई विषय नहीं छूटा जिसमें जैन आचार्यों ने ग्रन्थ-रचना न की हो। उमास्वामी रचित 'तत्वार्थसूत्र' या मोक्षशास्त्र सभी सम्प्रदायों में मान्य जैन धर्म का प्रसिद्ध सिद्धांत ग्रन्थ है। इसमें जैन दर्शन, आचार और सिद्धांतों का सांगोपांग परिचय सूत्ररूप में आ गया है। विगत दो हजार वर्षों में इस पर अनेक भाष्य और टीकाएं लिखी गयी हैं। भगवद्गीता की तरह घर-घर में इसका पाठ होता है। तत्वार्थसूत्र सिर्फ जैनों के ही लिए नहीं अपितु मनुष्यमात्र के लिए परम उपयोगी है। इक्कीसवीं शती की शंकाकुल वृत्ति, अनास्था, संशय तथा द्वेष का परिवेश इस ग्रन्थ को नकारने में समर्थ नहीं हो पायेगा। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी विपुल जैन साहित्य मिलता है।

भगवान महावीर स्वामी ने नारी-जागरण का बिगुल बजाया था। महासती चंदनबाला पर अनेक प्रेरणाप्रद कृतियां मिलती हैं। जैन साहित्य का यह चरम पक्ष इक्कीसवीं सदी का महापर्व है। जैन कथा साहित्य में मैना सुन्दरी, अंजना, राजुल, सीता, द्रोपदी, चंदना जैसी नारियों ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध की कतिपय जैन कवयित्रियों में इलाहाबाद की मैनावती, ललितपुर की कमलादेवी, 'राष्ट्रभाषा कोविद' पं० परमेश्वरीदास जैन 'चायती' की सहधर्मिणी कमलादेवी और लहरपुर की इन्द्रोदेवी जैन के नाम उल्लेखनीय हैं। इक्कीसवीं सदी में यह साहित्य सम्वर्द्धित होगा - इसमें कोई संदेह नहीं।

आदिकालीन जैन रासो काव्य परम्परा, ब्रजभाषा के जैन प्रबंध काव्य और आधुनिक काल में लिखा गया विशाल जैन साहित्य भण्डार इक्कीसवीं सदी के लिए वरदान सिद्ध होगा।

प्रो० ए० चक्रवर्ती के शब्दों में, जैन दर्शन स्पष्टतया यथार्थवादी है। बीसवीं शताब्दी ने यथार्थवाद को उन्नयन दिया, किन्तु इक्कीसवीं सदी में इसका उद्दीयमान स्वरूप प्राप्त होगा। इस दृष्टि से जैन साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है।

साहित्य का माध्यम है भाषा। महावीर स्वामी के समय में अट्ठारह भाषाएं और सात सौ उपभाषाएं बोली जाती थीं। जनता से जुड़ने के लिए महावीर ने अर्द्धमागधी भाषा को स्वीकार किया। इस लक्ष्य से, इक्कीसवीं सदी का जैन साहित्य आम आदमी के लिए सरल भाषा तथा सुबोध शैली, कैसेट एवं केपसूल के रूप में भी प्राप्त तथा व्यवहृत होगा।

इक्कीसवी सदी के संकेत सूत्र और मनोभावनाओं में जैन साहित्य में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। ऐसे पात्रों को गरिमा मिलेगी जो कि जनता से सम्पर्क हों और आम आदमी का प्रतिनिधित्व करते हों। बुद्धिवाद की विशेष स्थिति होने के कारण जैन साहित्य को विशेष आकर्षण मिलने की पूर्ण सम्भावना है। 'जीओ और जीने दो' के सिद्धांत को पूर्ण स्वीकृति मिलेगी। सहिष्णुता, सर्वांगीण शिक्षा, वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न युवा वर्ग, कर्म से महानता, भ्रष्टाचार-विरोध, अहम् का विसर्जन आदि को साहित्यिक वाणी का अधिक प्रसाद मिलेगा।

मानव के जीने के अधिकार का सम्मान ही अहिंसा है। अणु का विस्फोट [illegible] है। निरस्त्रीकरण के वातावरण को निर्मित करने में जैन साहित्य की प्रमुख भूमिका है। इक्कीसवीं सदी में मनुष्य का अन्य प्राणों पर भी अधिकार हो जायेगा। यह [illegible] का [illegible] होगा। [illegible] तृष्णा, उत्पीड़न, [illegible] के लिए जैन साहित्य [illegible]

परिणति होगा । विज्ञान की विनाशकारी शक्तियो का नग्न नर्तन, मानव-सकट, सभ्यता की निष्पत्ति और विश्व की आपत्ति के मध्य जैन साहित्य की समतामूलक मानवीय सवेदनाए एव प्रशस्त पथ ही सर्व कल्याणकारी प्रतीत होते है ।

इक्कीसवी सदी तो आवेगी ही और उसमे साहित्य भी लिखा जावेगा । साहित्य का सम्बध मानव जीवन से है । जब तक मानव जीवन है तब तक साहित्य भी है । अनेक शताब्दिया आती और जाती रहेगी परन्तु मानव का हृदय स्पदनशील बना रहेगा जिसके लिए साहित्य अनिवार्य अर्हता है ।

यूजीसी प्रोफेसर इमेरिटस (हिन्दी)
डाक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर-४७० ००३ (म प्र)

□

चौबीसो जिनराय-पाय वदौं सुखदायक ।
कामदेव चौबीस, ईस सुमरौं सिवनायक ॥

भरत आदि चक्रीस, दुदस बहु सुरनर स्वामी ।
नारद पदम मुरारि, और प्रतिहारी जगनामी ॥

जिनमात तात कुलकर पुरुप, सकर उत्तम जियधरो ।
कछु तदभव कछु भव धर जगत, मुकति रूप वदन करौ ॥२४॥

कवि बुधजन कृत 'चर्चाशतक' से

स्वामी समंतभद्र और उनका रत्नकरण्ड श्रावकाचार

☐ लादूलाल जैन

जैन शासन के प्रभावक आचार्यों में स्वामी समन्तभद्र का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भगवान वीर की वाणी का प्रचार और प्रसार करने में उनका वड़ा योगदान है। उसी वाणी के मूल सिद्धान्तों तथा तत्त्वों का दार्शनिक तथा तार्किक शैली में उन्होंने बड़े ही प्रभावशाली ढ़ंग से प्रतिपादन किया है।

स्वामी समन्तभद्र की उपलब्ध रचनायें हैं-आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयंभू स्तोत्र, स्तुतिविद्या और रत्नकरण्ड श्रावकाचार (समीचिन धर्मशास्त्र)। आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन उनके दार्शनिक ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में आचार्य ने युक्ति-एवम्-तर्क के आधार पर जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों तथा तत्त्वों का विवेचन किया है। इन दोनों ग्रन्थों तथा स्वयंभूस्तोत्र में स्तोत्र-प्रणाली से तत्त्वज्ञान भरा गया है। ये तीनों स्तुति ग्रन्थ हैं। आचार्य महोदय ने इन रचनाओं के द्वारा स्तुतिविद्या का विशेपरूप से उद्धार, संस्कार और विकास किया है। इसीलिए वे आद्य स्तुतिकार कहलाते हैं। यह शैली वाद में इतनी लोकप्रिय हुई कि सिद्धसेन, हेमचन्द्र और अमृतचन्द्र जैसे समर्थ आचार्यो ने अपनाई। उनकी 'आप्तमीमांसा' संक्षिप्त होते हुए भी इतनी सशक्त और सार युक्त है कि अकलंकदेव तथा विद्यानन्द जैसे महान आचार्यो ने उस पर वृहत टीकाएं लिखकर जैन साहित्य की अभिवृद्धि की।

समन्तभद्र उच्च कोटि के स्तुतिकार थे। आप्तमीमांसा तथा युक्त्यनुशान में उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों तथा तत्वों के माध्यम से स्तुति की है। स्वयंभूस्तोत्र में उन्होंने अपने पूज्य के प्रति भक्ति श्रद्धा का प्रगाढ परिचय दिया है। साथ ही उसमें उनके गुणों का पुण्य स्मरण तथा स्वयं की गुणग्राहकता एवं निष्ठा की पराकाष्ठा प्रदर्शित की है। उसमें भक्ति के साथ साथ आध्यात्मिकता का भी समावेश हुआ है। उनकी 'स्तुतिविद्या' उनकी भक्ति तथा शब्दचातुर्य, अलंकारिकता की परिचायक है। यह रचना चित्रालंकार का उत्कृष्ट उदाहरण है।

समन्तभद्र जहां उच्चकोटि के दार्शनिक तत्ववेत्ता थे, वहीं वे उच्च कोटि के आत्म साधक भी थे। भस्मक व्याधि से पीड़ित होने पर भी अपने आराध्य की प्रति उनकी श्रद्धा अविचलित रही। रोग के समाप्त होने पर वे आत्म साधन में पूर्ण तत्पर हो गये। यही नहीं, उन्होंने श्रावक गृहस्थों के लिए रत्नों का एक ऐसा पिटारा प्रस्तुत किया जिसके प्रकाश में वे मुक्ति के पथ पर सतत ही बढ़ सकते हैं। वह रत्नों का पिटारा है उनकी रचना रत्नकरण्ड श्रावकाचार अथवा समीचीन धर्म शास्त्र है (जुगलकिशोर जी मुख्तार के शब्दों में)।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे स्वामी समन्तभद्र ने सुख शान्ति के इच्छुक प्राणियो के लिए उसकी प्राप्ति का मार्ग प्रस्तुत किया है । उनके अनुसार वह मार्ग है - धर्म का अवलम्बन । उनके शब्दो मे धर्म कोई वाह्य क्रिया काण्ड अथवा ऊपरी दिखावटी आडम्बर नही है वरन् वह मार्ग है जिसका अवलम्बन कर सासारिक दु खो से सतप्त प्राणी उत्तम सुख की प्राप्ति करता है-

देशयामि समीचीन धर्म कर्म निवर्हणम ।
ससार दुखत सत्वान् या धरत्युत्तमे सुखे ॥ 2 ॥

वह धर्म है- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रूप, और ससार के दुखो का कारण है - मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्या चारित्र ।

सद्दृष्टि ज्ञान वृतानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु ।
यदीय प्रत्यर्यीकानि भवन्ति भव पद्धति ॥ 3 ॥

तत्वार्थ सूत्र के कर्ता आचार्य श्री उमास्वामी ने भी धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा है-

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग ॥

स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे धर्म के इन तीनो अगो का वर्णन किया है । यह धर्म सकल और विकल दो रूप मे है । इसे सकल अर्थात् पूर्ण रूप मे वे मानव पालन करते हैं जो अपने परिवार से समस्त ममता त्यागकर इसकी आराधना मे जुट जाते हैं तथा पूर्ण सिद्धि के शाश्वत सुख (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं । जो इस धर्म को पूर्ण रूप से पालन नही कर सकते, वे अभी गृहस्थ दशा मे रहकर ही आशिक रूप मे [illegible] करते हैं, वे विकल चारित्र के धारी होते हैं । इस ग्रन्थ मे गृहस्थो के इसी धर्म का सागोपाग वर्णन किया गया है । यद्यपि ग्रन्थ की कुल 150 कारिकाए ही है, पर आचार्य महोदय ने इसमे गागर मे सागर भर दिया है। श्रावकाचार विषय का इससे प्राचीन कोई ग्रन्थ अभी तक नही मिला है । यद्यपि श्री कुदकुन्दाचार्य ने अपने चारित्र पाहुड मे श्रावक धर्म का उल्लेख किया है, पर वह बहुत ही सक्षिप्त है । वहा केवल पाच गाथाओं मे 11 प्रतिमाओं तथा 12 व्रतो के नाम मात्र दिये हैं । उनके स्वरूप, अतिचारो तथा सल्लेखना का वर्णन नहीं है । उमास्वामी ने अपने तत्वार्थ सूत्र मे 7 वे अध्याय मे आस्रव तत्त्व के अन्तर्गत व्रतो का वर्णन किया है पर वह भी बहुत ही सक्षिप्त है । वहा गुणव्रतो, शिक्षाव्रतो, सल्लेखना के स्वरूप का वर्णन नही है, इन व्रतो के अतिचारो का उल्लेख मात्र किया है । अहिंसादि व्रतो के लक्षण श्रावक को लक्ष्य कर नही वर्णन किये गये हैं। प्रतिमाओं का तो उल्लेख तक भी नही है । पुरूषार्थ सिद्ध्युपाय, चारित्रसार, सोमदेव का उपासकाध्ययन, अमितगति का उपासकाचार, वसुनन्दि का श्रावकाचार, आशाधर का सागार धर्मामृत, लाटी सहिता आदि सब ग्रन्थ रत्नकरण्ड श्रावकाचार के बाद के हैं । इस प्रकार इस ग्रन्थ को श्रावकाचार का प्रथम ग्रन्थ कहा जा सकता है ।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार को सात अधिकारो या अध्ययनो मे विभाजित किया जा सकता है । प्रथम अधिकार मे धर्म का स्वरूप, आप्त, आगम, तपोभृत (गुरू) का स्वरूप, सम्यक्त्व के आठ अग, तीन मूढ़ता, आठ मद, सम्यक्त्व की महत्ता का वर्णन किया गया है । ये वर्णन सक्षिप्त होते हुए भी बहुत ही गम्भीर और सारगर्भित हैं । सम्यक्त्व के स्वरूप का वर्णन करते

हुए वतलाया गया है -सत्यार्थ आप्त, आगम, तपोभृत (गुरू) का तीन मूढ़ताओं रहित, अष्ट अंग सहित तथा आठ मद रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्ता गमतपोभृताम् । (भृ)
त्रिमूढापोढ़मष्टागं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।।4।।

अंत की कारिकाओं में सम्यक्त्व का महत्व बहुत ही प्रभावशाली ढंग से विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है ।

दूसरे अधिकार में सम्यग्ज्ञान का विवेचन किया गया है ।

यथावस्थित वस्तु स्वरूप का जो न्यूनता रहित, अधिकता रहित और संदेहरहित जैसा का तैसा जानना है, वह सम्यकज्ञान है

अन्यूनमनतिरिक्तं यथातथ्यं विना च विपरीतात्
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन : ।। 42 ।।

आचार्य महोदय ने सम्यग्ज्ञान के अन्तर्गत द्रव्यश्रुत के चार अंगों प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग के स्वरूप का वर्णन किया है ।

तीसरे अधिकार में सम्यूकचारित्र के स्वरूप का, चारित्र के दो अंग-सकल तथा विकल चारित्र, पांच अणुव्रतों तथा उनके पांच-पांच अतिचारों, पांच व्रतों के धारण करने वालों तथा मूलगुणों का वर्णन किया है । सम्यकूचारित्र की व्याख्या करते हुए आचार्य महोदय ने कहा है कि दर्शन मोहनीय के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर, सम्यक्ज्ञान के प्राप्त होने पर राग द्वेप की निवृति के लिए साधुपुरूष (भव्य पुरूप) द्वारा जो धारण किया जाता है, वह सम्यूक चारित्र है -

मोहतिमिरापहरणे, दर्शन लाभादवाप्त संज्ञान ।
राग द्वेप निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधु :।। 47 ।।

सम्यक चारित्र का एक मात्र उद्देश्य राग द्वेष की निवृति हो, तभी उसकी सार्थकता है। चौथे अधिकार में आचार्य ने गुणाव्रतों के अन्तर्गत दिग्व्रत, अनर्थदण्ड तथा भोगोपभोग परिमाण व्रत इन तीन का वर्णन किया है । जहां अन्य कई आचार्यो ने देशव्रत को गुणव्रतों में तथा भोगोपभोग परिमाण को शीलव्रतों में लिया हैं वहां आचार्य समन्तभद्र ने देशव्रत को शीलव्रत में तथा भोगोपभोग परिमाण को गुणव्रतों में लिया है। इस अधिकार में दिग्व्रत का स्वरूप, उसका महत्व, अनर्थदण्ड के पांच भेदों- पापोपदेश, हिंसादान, दुःश्रुति, अपध्यान, प्रमादचर्या का वर्णन, भोगोपभोग का लक्षण, भोग और उपभोग के लक्षण, त्यागने योग्य भोग-उपभोग का वर्णन, व्रत के लक्षण का वर्णन किया है, तथा तीनों गुणव्रतो में लगने वाले अतिचारों का वर्णन किया है ।

पांचवें अधिकार में चार शीलव्रतों-देशव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, वैयावृत्य और उनके अतिचारों का वर्णन किया है । देशव्रत का लक्षण, उसका महत्व, सामायिक का लक्षण , उसके लिए उपयुक्त स्थान, उसमें चिन्तनीय विषय, सामयिक के समय गृहस्थ की दशा आदि, प्रोषधोपवास का स्वरूप, प्रोषध का अर्थ, प्रोषधोपवास में त्यागने योग्य प्रवृत्तियों, उसमें करणीय विषयों का वर्णन, वैयावृत्य का लक्षण, दाता व पात्र का स्वरूप, चार प्रकार के दान, दान का

महत्व, चारो दानो मे प्रसिद्ध प्राणी आदि का वर्णन है । वैयावृत्य मे देवपूजा को भी सम्मिलित किया गया है । देवपूजा के उत्तमफल का वर्णन किया गया है । जिस प्रकार जल रक्त के मल को धोता है, उसी प्रकार दान तथा देवपूजा गृहस्थ के पचसूनो और सावद्यकर्मों मे लगे पापो को धो डालने मे समर्थ है ।

छठे अधिकार मे सल्लेखना का सविस्तार वर्णन किया गया है । किन परिस्थितियो मे सल्लेखना की जावे, सल्लेखना का महत्व, उसकी विधि, उसके अतिचार तथा उसके फल का वर्णन किया गया है । धर्म से प्राप्त होने वाले अभ्युदय तथा निश्रेयस् सुखो का वर्णन किया गया है ।

सप्तम अधिकार मे श्रावक के ग्यारह पदो अथवा प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है । प्रत्येक पद का स्वरूप एक-एक कारिका मे वर्णन किया गया है । उत्तरोत्तर पद मे पूर्व का निरतिचार पालन आवश्यक है । ग्यारहवे पद मे दो अवस्थाओं - क्षुल्लक तथा ऐलक का वर्णन नही है जैसा कि वाद मे चलकर प्रचलित हुआ । अन्त मे धर्म की महत्ता तथा उसका फल और ग्रन्थ की समाप्ति अत्य मगल द्वारा की गई है ।

इस प्रकार यह ग्रन्थ सक्षिप्त होते हुए भी श्रावक धर्म का वड़ा ही हृदयग्राही, समीचीन, सुखमूलक एव प्रामाणिक वर्णन करता है । इसीलिए टीकाकार प्रभाचन्द्र ने इसे अखिल सागारमार्ग (गृहस्थ धर्म) को प्रकाशित करने वाला निर्मल सूर्य और श्री वादिराजसूरि ने अक्षय सुखावह विशेषण के साथ इसका स्मरण किया है ।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं का उल्लेख करना अप्रासगिक न होगा ।

आठ अगो से हीन सम्यग्दर्शन कर्मों की सन्तति को नष्ट करने मे उसी प्रकार असमर्थ है जिस प्रकार अक्षरो से हीन (अक्षरो की कमीवेशी से) मन्त्र वेदना को नष्ट करने मे असमर्थ है।

नाङ्गहीननल छेत्तु दर्शन जन्म सततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षर न्यूनो निहति विपवेदनाम् ॥21॥

ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, वल, ऋद्धि, तप, शरीर के मद से मत्त होकर जो जन धर्मात्मा-जनो का अपमान करता है, वह वास्तव मे अपने ही धर्म का अपमान करता है क्यो कि धार्मिको के विना धर्म की स्थिति नही है ।

स्मयेन योऽ न्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशय ।
सोऽत्यति धर्ममात्मीय न धर्मो धार्मिके विनो ॥26॥

सम्यग्दर्शन से सम्पन्न चाण्डाल शरीरधारी मानव भी देव है, ऐसा गणधर देवो ने कहा है । उसकी दशा उस अँगारे के सदृश होती है जो वाह्य मे भस्म से आच्छादित होने पर भी अन्तरग मे तेज तथा प्रकाश को लिये हुए है ।

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन श्रेष्ठता को प्राप्त है, इसलिए मोक्षमार्ग मे (रत्नत्रय मे) सम्यग्दर्शन को कर्णधार - खेवटिया कहते है ।

दर्शन-ज्ञान चारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते ।
दर्शन कर्णधार तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते ॥ 31 ॥

तीनों कालों और तीनों लोकों में देहधारियों के लिये सम्यक्त्व के समान और कोई भी वस्तु श्रेयरूप (कल्याणकारी) नहीं है, तथा मिथ्यात्व के समान अन्य कोई भी वस्तु अश्रेयरूप (अकल्याणकारी) नहीं है ।

न सम्यक्त्व- समं किंचित त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व समं नात्तनूभृताम् ।।34।।

आचार्य महोदय ने चारित्र धारण करने के पूर्व सम्यक्त्व को प्रधानता दी है, विना उसके चारित्र की सार्थकता नहीं है । श्रावक की प्रतिमाओं के पूर्व उसकी अनिवार्यता पर जोर देते हुए कहते हैं- जो सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, संसार से, शरीर से और भोगों से विरक्त है, पंचगुरूओं की शरण को प्राप्त है और तत्वपथ की ओर आकर्षित है, वह दर्शनिक नाम का श्रावक है -

सम्यग्दर्शनशुद्धः संसार-शरीर-भोग-निर्विण्ण : ।
पंच गुरू-चरण शरणो दार्शनिक स्तत्त्वपथगृह्यः ।।137।।

सल्लेखना का साधक के जीवन में बड़ा महत्व है । आचार्य महोदय के अनुसार साधक को अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रतादिरूप तपश्चर्या का फल अंततक्रिया (सल्लेखना) के आधार उर अवलम्वित है, ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं, इसीलिए अपनी जितनी भी शक्ति सामूर्थय हो, उसके अनुसार समाधिपूर्वक मरण में (सल्लेखना) के अनुष्ठान में प्रयत्नशील होना चाहिए ।

अन्तक्रियाधिकरणं तपः फलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ।।123 ।।

समंतभद्र इस वात पर वहुत जोर देकर कहते हैं कि धर्म ही जीव के कल्याण का एक मात्र मार्ग है, इसके विपरीत अधर्म जीव के लिए दुःखों की खान है -

पापमराति धर्मो वंधुर्जीवस्य चेति निश्चन्वन् ।
समयं यदि जानीते श्रेयीज्ञाता ध्रुवं भवति ।।

जीव का शत्रु पाप (मिथ्यादर्शनादिक)और वंधु धर्म (सम्यग्दर्शनादिक) है, यह निश्चय करता हुआ जो समय को (आगम को) जानता है, वह निश्चय से श्रेष्ठ ज्ञाता होता है, आत्म-हित को ठीक पहचानता है ।

❑

यूनानी दर्शन और जैन दर्शन

☐ डा रमेशचन्द्र जैन

विद्वान् लेखक ने बहुत ही सरल एव स्पष्ट रूप में यूनानी दार्शनिको की थेल्स से एपीक्यूरस तक की चिन्तन धारा को प्रस्तुत करते हुए जैन दर्शन के प्रकाश मे उनकी अपूर्णताओं का दिग्दर्शन कराया है । हाथी के पैर, पूछ सून्ड आदि अगों को छूकर हाथी के एक अगीय ज्ञान को सार्थकता प्रदान करने हेतु जैसे हाथी का सम्पूर्ण ज्ञान रखने वाले किसी चाक्षुष्मान व्यक्ति का जो स्थान है वह ही जगत के विभिन्न दर्शनों के बीच जैन दर्शन का स्थान है । जैन दर्शन के अनेकान्तपूर्ण समग्रता के प्रकाश के अभाव मे सब ही दार्शनिक परस्पर एक दूसरे के विरोधी, एक दूसरे की दृष्टि का विध्वस करने लगते हैं, विशुद्धि के स्थान पर सक्लेष को जन्म देने लगते हैं, ज्ञान के स्थान पर अज्ञान उत्पन्न करने लगते हैं, और तब प्राय मानव दर्शन को कही न ले जाने वाला व्यर्थ का बुद्धि विलास तक मान लेता है । सर्वज्ञ महापुरुषों के ज्ञान के प्रकाश मे सब ही दार्शनिक सत्य के एक पक्ष को उद्घाटित करने का श्रेय प्राप्त करते हैं । दार्शनिको के चिन्तित पक्षो का परस्पर कैसे मेल बनता है और यह छद्मस्थ चिन्तन सत्य के लोक मे कहा तक जाता है और क्या कुछ अप्रविष्ट, अस्पष्ट रह जाता है, यह अनेकान्त/स्याद्वाद मे शिक्षित मानव भले प्रकार समझ लेता है । इस प्रकार विश्व की दर्शन चिन्तन परम्परा को सार्थकता और पुष्टि प्रदाता के रूप मे जैन दर्शन अपरिहार्य है । साथ ही अन्य दर्शन सर्वज्ञ प्रणीत जैन दर्शन की शोभा मे वृद्धि ही करते हैं जैसे तारे चन्द्रमा की शोभा मे ।

सम्पादक

यूनान पश्चिमी दर्शन का जन्म स्थान समझा जाता है । यहा थेल्स (624 555 ई पूर्व) का नाम दार्शनिको की श्रेणी मे प्रथम माना जाता है । यह सर्वसम्मति से यूनानी दर्शन[1] का जनक माना जाता है । थेल्स ने जल को सारे प्रकृत जगत का आदि और अन्त कहा-जो कुछ विद्यमान है, वह जल का विकास है और अन्त मे जल मे ही विलीन हो जायेगा । एनेक्जिमिनीज (611-547 ई पूर्व) ने जल के स्थान मे वायु को जगत का आदि और अन्त कहा । उसके अनुसार सारा दृष्ट जगत वायु के सूक्ष्म और सघन होने का परिणाम है । पाइथेगोरस (छठी शती ई पूर्व) ने सख्या

1 आधार ग्रन्थ - पश्चिम दर्शन (ले डा दीवान चन्द)

को विश्व का मूलतत्व कहा । उसके अनुसार हम ऐसे जगत का चिन्तन कर नहीं कर सकते, जिसमें संख्या का अभाव हो । जैन दर्शन के अनुसार जगत अनादि अनन्त है । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों का समुदाय जगत है । जल तथा वायु पुद्गल परमाणु हैं, जो अनेक रूपों में परिवर्तित होते रहते हैं । इनमें यद्यपि निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, किन्तु ये अपने पौद्गलिक स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं । छहों द्रव्य उत्पादन व्यय और ध्रौव्य स्वभाव से युक्त हैं और अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं ।

इलिया के सम्प्रदाय (जिसमें पार्मेनाइडिस और जीनोफेनीज के नाम प्रमुख हैं) वालों का कहना था कि दृष्य जगत असत् है, आभास मात्र है । भाव और अभाव, सत् और असत् में कोई मेल का विन्दु नहीं हैं । सत् असत् से उत्पन्न नहीं हो सकता, न सत असत् वन सकता है। जगत का प्रवाह जो हमें दिखाई देता है, मायां है । इसमें सत् या भाव का कोई अंश नहीं है । जैन दर्शन के अनुसार दृष्य जगत् सर्वथा असत् अथवा आभास मात्र नहीं है । यदि कार्य को सर्वथा असत् कहा जाय तो वह आकाश पुष्प के समान न होने रूप ही है । यदि असत् का भी उत्पाद माना जाय तो फिर उपादान कारण का कोई नियम नही रहता और न कार्य की उत्पति का कोई विश्वास ही बना रहता है ।[2] गेहूं बोकर उपादान कारण के नियमानुसार हम आशा नहीं रख सकते कि उससे गेहूं ही पैदा होंगे । असदुत्पाद के कारण उससे चने जो या मटरादिक भी पैदा हो सकते है और इसलिए हम किसी भी उत्पादन कार्य के विपय में निश्चिन्त नहीं रह सकते । इस तरह सारा ही लोक व्यवहार बिगड़ जाता है और यह सव प्रत्यक्षादिक के विरूद्ध है ।[3] भाव और अभाव, सत् और असत् में कोई मेल विन्दु न हो - ऐसा भी नहीं है । भाव और अभाव, सत् और असत् एक ही वस्तु में अविरोध रूप से विद्यमान है। द्रव्य स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा कथन किये जाने पर अस्ति है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से कथन किये जाने पर नास्ति है ।[4] जैसे भारत स्वदेश भी है और विदेश भी है । देवदत्त अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र भी है ।

पार्मेनाइडिस (5 वी शती ई. पूर्व) का कहना था कि सत् नित्य और अविभाज्य है । इसमे कोई परिवर्तन नहीं हो सकता; क्योंकि परिवर्तन तो असत् का लक्षण है । जैनाचार्यो ने द्रव्य का लक्षण सत् मानते हुए भी उसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त माना है ।[5] एक जाति का अविरोधी जो क्रमभावी भावों का प्रवाह, उसमें पूर्वभाव का विनाश व्यय, उत्तरभाव का प्रादुर्भाव होना 'उत्पाद' है और पूर्व उत्तर भावों के व्यय, उत्पाद होने पर भी स्वजाति का अत्याग 'ध्रौव्य' है । ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सामान्य कथन से द्रव्य से अभिन्न है और विशेष आदेश से भिन्न हैं, युगपद् वर्तते हैं और स्वभावभूत है ।[6] इस प्रकार वस्तु का अस्तित्व सिद्ध है ।

---

2 यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्माऽजनि खपुष्पवत् ।
मोपादाननियामोऽभून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥ आप्तमीमांसा-४२

3. देवागम स्तोत्र - भाष्य (पं. जुगलकिशोर मुख्तार) - ४२

4. तत्र द्रव्यं स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावैरादिश्यमानं अस्ति द्रव्यं, परद्रव्य क्षेत्र काल भावैरादिश्यमानं नास्ति द्रव्यम् - पंचास्तिकाय-१४ (अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका)

5. दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ॥ पंचास्तिकाय - १०

[illegible] ५,१,१ ॥

आचार्य समन्तभद्र ने कार्य कारणादि के एकत्व (अविभाज्यता) का भी विरोध किया है। उनका कहना है कि कार्य कारणादि का सर्वथा एकत्व माना जाय तो कारण तथा कार्य मे से किसी एक का अभाव हो जायेगा और एक के अभाव मे दूसरे का भी अभाव हो जायेगा, क्योंकि उनका परस्पर मे अविनाभाव है।[7] तात्पर्य यह है कि कारण कार्य की अपेक्षा रखता है। सर्वथा कार्य का अभाव होने पर कारणत्व वन नही सकता और इस तरह सर्व के अभाव का प्रसग आ जाता है।

जीनोफेनीज (465ई पूर्व) ने यह वताने का प्रयत्न किया कि गति का कोई अस्तित्व नही है। जैनधर्म मे जीव और पुद्गलो की गति मे नियामक धर्मद्रव्य को स्वीकार किया गया है। इसके लिए गन्थो मे आगम और अनुमान प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। अनुमान प्रमाण उपस्थित करते हुए कहा गया हैं कि जैसे अकेले मिट्टी के पिण्ड से घड़ा उत्पन्न नही होता, उसके लिए कुम्हार, चक्र चीवर आदि अनेक वाह्य कारण अपेक्षित होते हैं, उसी प्रकार पक्षी आदि की गति और स्थिति भी अनेक वाह्य कारणो की अपेक्षा कराती है। इनमे सवकी गति और स्थिति के लिए साधारण कारण क्रमश धर्म और अधर्म द्रव्य होते हैं। यदि यह नियम वनाया जाय कि जो पदार्थ प्रत्यक्ष से उपलव्ध न हो, उनका अभाव है तो सभी वादियो को स्वसिद्धान्त विरोध दोप होता है, क्योंकि सभी वादी प्रत्यक्ष पदार्थो को स्वीकार करते ही हैं।

हिरेक्लिटस (535 475 ई पूर्व) का कहना था कि अग्नि विश्व का मूलतत्व है। मूल अग्नि अपने आपको वायु मे परिवर्तित करती है, वायु जल वनती है और जल पृथ्वी का रूप ग्रहण करता है, यह नीचे की ओर का मार्ग है। इसके विपरित ऊपर की ओर का मार्ग है। इसमे पृथ्वी जल मे जल वायु मे तथा वायु अग्नि मे वदलते है। जैन दर्शन अग्नि आदि के परमाणु को वायु आदि परमाणुओं के रूप मे वदलना तो मानता है, किन्तु उनका मूल पौद्गलिक परमाणु ही है। पुद्गल विश्व के निर्माण कर्ता छह द्रव्यो मे एक है। हिरैक्लिटस के अनुसार ससार मे स्थिरता का कही पता नही चलता, अस्थिरता ही विद्यमान है। जो कुछ है, क्षणिक है। हिरेक्लिटस के इस क्षणभगवाद की तुलना वौद्धो के क्षणभगवाद से की जाती है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है -यदि वस्तु का स्वभाव क्षणभगुर ही माना जाय तो पूर्वकृत कर्म फल विना भोगे ही नष्ट हो जायेगा, स्वय नही किए हुए कर्मो का फल भी भोगना पड़ेगा तथा ससार का, मोक्ष का और स्मरण शक्ति का नाश हो जायेगा।[9] तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु क्षणस्थायी मानने पर आत्मा कोई पृथक पदार्थ नही वन सकता तथा आत्मा के न मानने पर ससार नही वनता, क्योंकि क्षणिकवादियो के मत मे पूर्व एव अपर क्षणो मे कोई सम्वन्ध न होने से पूर्वजन्म के कर्मो का जन्मान्तर मे फल नही मिल सकता। यदि कहा जाय कि सन्तान का एक क्षण दूसरे क्षण से सम्वद्ध होता है, मरण के समय रहने वाला ज्ञानक्षण भी दूसरे विचार से

---

6 वही अमृतचन्द्राचार्य टीका - पृष्ठ २४

7 एकत्वेऽभावोऽविनुभुव शेपाऽभावोऽविन्नभुव - देवागमस्तोत्र ६९

8 तत्वार्थवार्तिक ५-१७-३२ से ३५

9 कृत प्रणाशाऽकृतकर्मभोगभव प्रमोक्षस्मृतिभग दोपान्।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभगमिच्छन्नही महासाहसिक परस्ते ॥ १८ ॥ स्याद्वाद मजरी

सम्बद्ध होता है, इसीलिए संसार की परम्परा सिद्ध होती है -यह सब कथन ठीक नहीं है; क्योंकि सन्तान क्षणों का परस्पर सम्बन्ध करने वाला कोई पदार्थ नहीं है, जिसमें दोनों क्षणों का परस्पर सम्बन्ध हो सके । आत्मा के न मानने पर मोक्ष भी सिद्ध नही होता, क्योंकि संसारी आत्मा का अभाव होंने से मोक्ष किसको मिलेगा । क्षणभंगवाद में स्मृतिज्ञान भी नही वन सकता क्योंकि एक बुद्धि से अनुभव किये हुए पदार्थो का दूसरी बुद्धि से स्मरण नहीं हो सकता । स्मृति के स्थान में सन्तान को अलग पदार्थ मानकर एक सन्तान का दूसरी सन्तान केसाथ कार्य कारणभाव मानने पर भी सन्तान क्षणों की परस्पर भिन्नता नहीं मिट सकती; क्योंकि क्षणभंगवाद में सम्पूर्ण क्षण परस्पर भिन्न हैं ।

ल्युसिप्पस (480 ई. पूर्व) ने मूलतत्व परमाणु माना है । हम इसे देख नही सकते, इसका विभाजन नहीं हो सकता, यह ठोस है, नित्य है । परमाणुओं के योग से सारे पदार्थ वनते हैं । इन परमाणुओं में मात्रा और आकृति का भेद है । इस भेद के कारण उनकी गति भी एक समान नहीं होती । सारी क्रिया इस गति का फल है । गति के लिए अवकाश की आवश्यकता है । ल्युसिप्पस ने परमाणुओं के साथ शून्य अवकाश को भी मूल तत्व स्वीकार किया । पदार्थो में और अवकाश में भेद यह है कि पदार्थ अवकाश का भरा हुआ भाग है । इस भेद को दृष्टि में रखते हुए विश्व अशून्य और शून्य में विभक्त किया गया है । ल्युसिप्पस ने प्रकृत जगत के समाधान के लिए किसी अप्राकृत तत्व या शक्ति का सहारा नहीं लिया । उसके मत में जो कुछ होता है, प्राकृत नियम के अनुसार होता है, यहां किसी प्रयोजन का पता नही चलता ।

जैन दर्शन में पुद्गल के दो भेद कहे गए हैं- 1. अणु और 2- स्कन्ध । जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है और जिसे इन्द्रियां ग्रहण नहीं कर सकती ऐसा जो विभाग रहित द्रव्य है, वह परमाणु है ।[10] विश्व का मूलतत्व केवल परमाणु रूप पुद्गल द्रव्य न होकर छह द्रव्य हैं । परमाणु में भी उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्यपना पाया जाता है। अतः वह नित्यानित्य अथवा कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है, सर्वथा नित्य नहीं है । पुद्गल का सबसे सूक्ष्म अविभागी अंश होने के कारण परमाणुओं में मात्रा और आकृति का भेद नहीं होता, यह भेद उसके स्कन्ध वनने पर होता है । जीव और पुद्गलों की गति में सहायक धर्मद्रव्य है ।[11] क्रिया कालद्रव्य का उपकार है ।[12] अवगाह देना आकाश द्रव्य का उपकार है।[13] यह आकाश दो प्रकार का है -(1) लोकाकाश (2) अलोकाकाश । जितने आकाश में लोक है, वह लोकाकाश है, शेष अलोकाकाश है । लोकाकाश में छह द्रव्य पाए जाते हैं और अलोकाकाश में केवल आकाश द्रव्य ही पाया जाता है ।

10. अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंत णेव इन्द्रिय गेज्झं ।
    जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विआणाहि ॥
    सर्वार्थसिद्धि में उद्धृत पृ. २२१
11. गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकार : ॥ तत्वार्थसूत्र ५ । १७
12. वर्तनापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ वही ५ । २२
13. आकाशस्यावगाह : ॥ वही ५ । १८

एनैक्सेगोरस (500-428 ई पूर्व) का कथन है कि जगत का मूल कारण असख्य प्रकार के परमाणुओं की असीम मात्रा है । यह सामग्री आरम्भ मे पूर्णतया व्यवस्थाहीन थी । अव सोने, चादी, मिट्टी जल आदि के परमाणु एक प्रकार के हैं । प्रारम्भ मे ये मारे एक दूसरे से मिले थे । उस समय न सोना था, न मिट्टी थी । अव्यवस्थित दशा से व्यवस्था कैसे पैदा हुई ? स्वय परमाणुओं मे तो ऐसी समझ की क्रिया की योग्यता न थी, यह क्रिया चेतन की अध्यक्षता मे हुई । इस चेतन सत्ता को एनेक्सेगोरस ने 'वृद्धि' का नाम दिया ।

ऊपर कहा गया है कि जैन दर्शन मे लोक छह द्रव्यो से बना हुआ निरूपित है, केवल परमाणुओं से निर्मित नही है । परमाणुओं का मिलना बिछुड़ना अनादि अनादि काल से अपने आप (स्व-प्रत्यय तथा -पर-प्रत्यय से) होता आया है । ऐसा नहीं है कि प्रारम्भ मे परमाणु अव्यवस्थित थे तथा अव चेतन के द्वारा व्यवस्थित हो गए है । अणु की उत्पति भेद से होती है, न सघात से ही होती है और न भेद और सघात इन दोनो से ही होती है । भेद और सघात से चाक्षुप स्कन्ध [15] वनता है ।

प्रोटेगोरस (480-411 ई पूर्व) ने इन्द्रियजन्य ज्ञान के अतिरिक्त अन्य प्रकार के ज्ञान को नही माना । प्रोटेगोरेस का यह कथन चार्वाक दर्शन से मिलता जुलता है , क्योंकि चावकि ने भी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का प्रमाण नही माना है । इसके खण्डन स्वरूप जैन दार्शनिको ने धर्मकीर्ति के उस कथन को प्राय उद्धृत किया है, जो उन्होंने अनुमान प्रमाण की सिद्धि के प्रसग मे कहा है, तदनुसार किसी ज्ञान मे प्रमाणता और किसी ज्ञान मे अप्रमाणता की व्यवस्था होने से, दूसरे मे वुद्धि का अवगम करने से और किसी पदार्थ का निपेध करने से प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण का सद्भाव सिद्ध होता है । प्रमाणता- अप्रमाणता का निर्णय स्वभाव हेतु जनित अनुमान से, कार्य से कारण का ज्ञान कार्य हेतु जनित अनुमान से तथा अभाव का ज्ञान अनुपलविध हेतु जनित अनुमान से किया जाता है । इस प्रकार प्रोटेगोरस का केवल इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही स्वीकार करना सिद्ध नही होता है ।

जार्जियस (427 ई पू) ने निम्न तीन धारणाओं को सिद्ध करने का प्रयत्न किया -

1 किसी भी वस्तु की सत्ता नही ।

2- यदि किसी वस्तु का अस्तित्व है तो उसका ज्ञान हमारी पहुच के वाहर है ।

3 यदि ऐसे ज्ञान की सम्भावना है तो कोई मनुष्य अपने ज्ञान को किसी दूसरे तक पहुँचा नही सकता ।

जेन दर्शन के अनुसार सत्ता सव पदार्थो मे है वस्तु की सत्ता को प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान के द्वारा जाना जाता है । कोई भी मनुष्य अपने ज्ञान को किसी दूसरे तक पहुचाने म निमित्त हो सकता है ।

पश्चिम मे सुकरात (469 399 ई पूर्व) लक्षण और आगमन दोनो का जन्मदाता है । इसलिए उसका स्थान चोटी के दार्शनिको मे है । उसके अनुसार ज्ञान के कई स्तर हैं । मैं एक

14 भेदादणु ॥ वही ५ । २८

15 भेद सघाताम्या चाक्षुप ॥ वही ५ । २८

घोड़े को देखता हूं । उसका कद विशेष कद है । उसका रंग विशेष रंग है । उसकी विशेषताओं के कारण मैं उसे अन्य घोड़ों से अलग करता हूँ । मेरा ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान है और यह ज्ञान किसी विशेष पदार्थ का बोध है । जिस घोड़े को मैंने देखा है, उसके न मौजूद होने पर भी उसका चित्र मेरी मानसिक दृष्टि में आ जाता है । किसी विशेष घोड़े को देखने या उसका मानसिक चित्र बनाने के अतिरिक्त मेरे लिए यह भी सम्भव है कि मैं घोड़े का चिन्तन करूँ । ऐसे चिन्तन में मैं किसी विशेष रंग का ध्यान नहीं करता ; क्योंकि यह रंग सभी घोड़ों का रंग नहीं है । मैं ऐसे विशेषणों का ध्यान करता हूँ जो सभी घोड़े में पाए जाते हैं और सबके सब किसी अन्य पशु जाति में नहीं मिलते । ऐसे चिन्तन का उद्देश्य घोड़ों का प्रत्यय निश्चित करना है । ऐसे प्रत्यय को शव्द में व्यक्त करना घोड़े का लक्षण करना है ।

जैन दर्शन में पदार्थ स्वभाव से ही सामान्य विशेष रूप माने गए हैं । उनमें सामान्य विशेष की प्रतीति कराने के लिए अर्थान्तर मानने की आवश्यकता नहीं ।[16] आत्मा और पुद्‌गलादि पदार्थ अपने स्वकाल में ही अर्थात सामान्य विशेष नामक पृथक पदार्थो की सहायता के विना सामान्य विशेष रूप होते हैं । एकाकार और एक नाम से कही जाने वाली प्रतीति को अनुवृत्ति अथवा सामान्य कहते हैं । सजातीय और विजातीय पदार्थो से सर्वथा अलग होने वाली प्रतीति को व्यावृति अथवा विशेष कहते हैं । इसी सामान्य तथा विशेष की व्याख्या सुकरात ने उदाहरण देकर की है ।

प्लेटो (427-347ई. पूर्व) के मतानुसार प्रत्ययों का जगत देश कालातीत जगत है । इसकी वस्तुगत सत्ता है । दृष्ट पदार्थ इसकी नकल है । कोई त्रिकोण, जिसकी हम रचना करते हैं, त्रिकोण के प्रत्यय की पूर्ण नकल नहीं । प्रत्येक विशेष पदार्थ में कोई न कोई अपूर्णता होती ही है । इसी अपूर्णता का भेद विशेष पदार्थों को एक दूसरे से भिन्न करता है । सारे घोड़े, घोड़े के प्रत्यय की नकले हैं । कोई प्रत्यय पदार्थों पर आधारित नहीं है । प्रत्यय तो उसकी रचना का आधार है । प्रत्यय और उसकी नकलों का भेद सामान्य और विशेष के रूप में पीछे प्रसिद्ध हुआ । प्रत्यय और आदर्श एक ही है ।

जैन दर्शन उपर्युक्त प्रत्ययों एवं उसकी नकलों की मान्यता को स्वीकार नही करता । उसके अनुसार दृष्ट पदार्थ किसी प्रत्यय की नकल नही, वास्तविक है । ज्ञान मे ऐसी शक्ति है कि वह पदार्थो को जानता है । ज्ञान में झलकने के कारण ही पदार्थ ज्ञेय कहलाते है । सामान्य से रहित विशेप विशेप से रहित सामान्य की उपलपब्धि किसी को नहीं होती । यदि दोनो की निरपेक्ष स्थिति मान ली जाय तो दोनो का ही अभाव हो जायगा । कहा भी है-

विशेप रहित सामान्य खरविपाण की तरह है और सामान्य बिना विशेप भी वैसा ही है । वस्तु का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है और यह लक्षण अनेकान्तवाद में ही ठीक ठीक घटित हो सकता है । गौ के कहने पर जिस प्रकार खुर, ककुत, सास्ना पूंछ, सींग आदि अवयवों वाले

16. स्वतोऽनुवृत्तिव्यतावृत्तिभाजो भावा न भावान्तरनेयरूपाः ।
परात्मतत्वादथात्मतत्वाद द्वयं वदन्तोऽकुशलाः स्खलन्ति ॥
आ. हेमचन्द्र : अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका

17. निर्विशेष हि सामान्य भवेत खरविषाणवत ।

गोपदार्थ का स्वरूप सभी गौव्यक्तियो मे पाया जाता है, उसी प्रकार भैंस आदि की व्यावृति भी प्रतीत होती है ।[18] अतएव एकान्त सामान्य को न मानकर सामान्य विशेप रूप ही मानना चाहिए।

प्लेटो ने ज्ञान के तीन स्तर स्वीकार किए । सवसे निचले स्तर पर विशेप पदार्थों का इन्द्रियजन्य ज्ञान है । ऐसे ज्ञान मे सामान्य का अश नही होता । जो पदार्थ हमे हरा दिखाई देता है, वही दूसरे को लाल दिखाई देता है और तीसरे का रगविहीन दिखाई देता है । पदार्थों के रूप, उनके परिणाम आदि के विपय मे ऐसा ही भेद होता है । प्लेटो के अनुसार एसा वोध, ज्ञान कहलाने का पात्र ही नही, इसका पद व्यक्ति की सम्मति का है । इससे ऊपर के स्तर का ज्ञान रेखागणित मे दिखाई देता है । हम एक त्रिकोण की वावत मे सिद्ध करते हैं कि उसकी कोई दो भुजाये तीसरी से वड़ी है और कहते हैं कि यह सभी त्रिकोणो के सम्वन्ध मे सत्य है । गणित के प्रमाणित सत्यो से भी ऊचा स्तर तत्त्वज्ञान का है, जिसमे सत् को साक्षात् देखते हैं । तत्त्वज्ञान ही वास्तव मे ज्ञान कहलाने के योग्य है ।

जैन दर्शन मे प्रत्यक्ष के दो भेद माने गए हैं–(1) साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और (2) पारमार्थिक प्रत्यक्ष । इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान हो, वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है । यह यथार्थ रूप मे परोक्ष ज्ञान ही है क्योंकि इसमे इन्द्रिय और मन के आलम्वन की आवश्यकता होती है । इन्द्रिय और मन के द्वारा जो जानकारी होती है, वह पूरी तरह से अयथार्थ हो, ऐसा नही है । काच, कामलादि रोग के कारण किसी को रग के विपय मे भ्रान्ति हो जाय तो इसका अर्थ यह नही है कि सारे इन्द्रिय ज्ञान भ्रान्त हैं । यदि सारे इन्द्रिजन्य ज्ञान को भ्रान्त माना जाय तो लोक व्यवहार का ही लोप हो जायगा । प्लेटो के ज्ञान के प्रथम दो स्तरो का समावेश साव्यावहारिक प्रत्यक्ष मे हो जाता है । जैन दर्शन मे इसे ज्ञान की श्रेणी मे रखा गया है । तत्त्वज्ञान इस ज्ञान से ऊचा अवश्य है, क्योंकि इसमे युगपत् अथवा अयुगपत् सारे पदार्थों का ज्ञान होता है । केवल केवली भगवान ही युगपत् सारे पदार्थों को जानते हैं, अन्य ससारी प्राणियो मे से जिन्हे तत्त्वज्ञान होता है, वे अयुगपत् (क्रमश) ही पदार्थों को जानते हैं । तत्वज्ञानी जैसा सत् को देखता है, उसी प्रकार असत् को भी देखता है, क्योंकि वस्तु केवल भावरूप ही नही अभावरूप भी है ।

प्लेटो के अनुसार सृष्टि रचना एक सृष्टा की क्रिया है । सृष्टा प्रकृति को प्रत्ययो का रूप देता है । जैन सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि स्वयसिद्ध है । कोई सर्वदृष्टा सदा कर्मों से अछूता नही हो सकता, क्योंकि विना उपाय से उसका सिद्ध होना किसी तरह नही वनता ।[19]

प्लेटो का प्रत्यय विशेप पदार्थों के वाहर था । अरस्तु (384 322 ई पूर्व) का तत्त्व प्रत्येक पदार्थ के अन्दर है । सभी घोड़े घोड़ा श्रेणी मे है, क्योंकि उन सवमे अपनी अपनी विशेपताओं के साथ सामान्य अश भी विद्यमान है । यह सामान्य अश उस सामान्य अश से भिन्न हैं, जो सारे गधो मे पाया जाता है और उन्हे गधा वनाता है । अरस्तू ने भी प्लेटो के

18 स्याद्वाद मजरी, पृष्ठ १२४

19 नास्पष्ट कर्मभ शश्वद् विश्वदृश्वाऽस्ति कश्चन ।
तस्यानुपाय सिद्धस्य सर्वथाऽनुपपत्तित ॥८॥ आप्त परीक्षा

द्वैत को कायम रखा, परन्तु उसने दोनों के अन्तर को दूर कर दिया। पदार्थों का न वदलने वाला सामान्य अंश उनसे बाहर नहीं, उनके अन्दर है। अरस्तू के सामान्य विशेप की यह अवधारणा जैन सिद्धान्त से मिलती जुलती है। अरस्तू मूल प्रकृति को आकारविहीन मानते थे। जैन दर्शन किसी एक द्रव्य को मूल प्रकृति नहीं मानता। उसके अनुसार पुद्गल द्रव्य ही केवल मूर्तिक है। शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं। अरस्तू के विवरण में चार प्रकार के कारणों का वर्णन है–

1. उपादान कारण
2. निमित्त कारण
3. आकार या स्वरूप कारण
4. लक्ष्य कारण

जैन दर्शन में केवल दो कारण माने गए हैं–(1) उपादान कारण और (2) निमित्त कारण।

एपिक्युरस (342-270 ई० पू०) ने लोगों को मृत्यु और परलोक के भय से मुक्त करने का निश्चय किया। इसके लिए उसने डिमाक्रीइटस के सिद्धान्त का आश्रय लिया। उसने कहा कि दृष्य जगत परमाणुओं से वना है। इसके वनाने में किसी चेतन शक्ति का हाथ नहीं है। देवी-देवता तो आप परमाणुओं से वने हैं। यद्यपि उनकी वनावट के परमाणु अग्नि के सूक्ष्म परमाणु हैं। जीवात्मा भी ऐसे ही परमाणुओं का संघात है। मृत्यु होने पर स्थूल परमाणु वातावरण में जा मिलते हैं। आत्मा के परमाणु विश्व अग्नि में जा मिलते हैं। इस जीवन के वाद कुछ रहता नहीं। नरक के दण्डों के विषय में कहना और सोचना व्यर्थ है।

जैन दर्शन भी लोगों को मृत्यु और परलोक के भय से मुक्त करने का मार्ग वतलाता है। किन्तु उसके अनुसार सम्यग्दर्शन (सम्यक श्रद्धा), सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है।[20] जगत छह द्रव्यों की निर्मिति है। इसके वनाने में किसी चेतन शक्ति का हाथ नहीं है। देवी-देवता का शरीर पौद्गलिक है। उनके पौद्गलिक शरीर में एकक्षेत्रावगाही आत्मा है। ये आत्मायें भिन्न-भिन्न शरीर में भिन्न-भिन्न हैं। जीवात्मा परमाणुओं का संघात न होकर उपयोग लक्षण वाला अमूर्त द्रव्य है। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर का त्याग हो जाता है। तैजस और कार्माण शरीर मृत्यु के वाद भी जीव का साथ नहीं छोड़ते हैं। जीव का अस्तित्व अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। वह केवल इसी जीवन के लिए नहीं है। नरकों का अस्तित्व है। उनके दण्डों के विषय में कहना और सोचना व्यर्थ नहीं है।

एपिक्युरस का यह मत जैन दर्शन से मिलता है कि संसार में जो कुछ हो रहा है, वह सब प्राकृत नियम के अधीन हो रहा है, इसमें किसी चेतन सत्ता का प्रयोजन दिखाई नहीं देता। मनुष्य स्वाधीनता के उचित प्रयोग से अपने आपको सुखी बना सकता है। एपिक्युरस ने आरम्भ में क्षणिक तृप्ति को भले ही महत्व दिया हो, किन्तु पीछे उसने दुःख की निवृत्ति को ही आदर्श समझा। किसी प्रकार की स्थिति में विचलित न होना, हर स्थिति में सन्तुलन बनाए रखना भले पुरुष का चिन्ह है। दार्शनिक का काम ऐसा स्वभाव बनाना और दूसरों को ऐसा

20 सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः तत्वार्थसूत्र १ । १

स्वभाव बनाने मे सहायता देना है । जैन दर्शन मे भी धर्म उसे ही कहा गया है जो प्राणियो को ससार के दु खो से छुड़ाकर उत्तम सुख मे पहुचा दे ।[21] आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह और क्षोभ से रहित आत्मा के साम्य परिणाम अथवा चारित्र को धर्म कहा है ।[22]

एपिक्युरस का विचार था कि अपनी आवश्यकताओं को कम करो । इससे मन को शान्ति प्राप्त होगी । जैन दर्शन का अपरिग्रहवाद भी यही है । एपिक्युरस सुखी जीवन के लिए सादगी, बुद्धिमत्ता और न्याय के साथ मित्रता को आवश्यक समझता था । प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव रखना जैनो का भी मूलमन्त्र है ।

एपिक्युरस ने कहा था कि कोई घटना अपने आप मे अच्छी या बुरी नही, हमारी सम्मति उसे अच्छा या बुरा मानती है । क्या किसी पुरुष ने मेरा अपमान किया है ? यह तो मेरे समझने की बात है । यदि मैं समझू कि अपमान हुआ है तो हुआ है और यदि समझू कि नही हुआ तो नही हुआ । मेरी घड़ी किसी ने उठा ली है । क्या इससे मेरी हानि हुई । यह भी समझने का प्रश्न है । यदि मैं समझू कि मुझे घड़ी की आवश्यकता ही नही है तो जो कुछ मैंने खोया है, उसकी कोई कीमत ही नही । हानि कहा हुई है ? तुम स्वाधीन हो । अपनी स्वाधीनता का उचित प्रयोग करके विश्वास करो कि तुम्हारे लिए कोई घटना अभद्र नही हो सकती । एपिक्युरस जैसी ही बात सम्यग्दृष्टि के विषय मे प० बनारसीदास जी ने कही है—

स्वारथ के साचे परमारथ के साचे चित
साचे साचे बैन कहैं साचे जैनमती है ॥
काहू के विरुद्ध नाहि परजय बुद्धि नाहि ।
आतम गवैपी न गृहस्थ है, न जती है ॥
ऋद्धि सिद्धि वृद्धि दीसै घट मे प्रकट सदा ।
अन्तर की लच्छी सौं अजाची लच्छपती हैं ॥
दास भगवन्त के उदास रहैं जगत सौ
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती है ॥ नाटक समयसार

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि यूनान के दार्शनिको की जो समस्याये और अपूर्णताये थी, उनका समुचित समाधान जैन दर्शन मे प्राप्त होता है, क्योंकि जैन दर्शन का आधार सर्वज्ञ की वाणी है । इसका अनेकान्तवाद प्रत्येक ऐकान्तिक पहलू के सामने आने वाली कठिनाई को दूर करने मे समर्थ है । इस प्रकार प्रत्येक दार्शनिक के परिप्रेक्ष्य मे जैन दर्शन का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है ।

❑

21 देशयामि समीचीन धर्मं कर्म निवर्हणम ।
ससारदु खत सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार

22 चारित्त खलुधम्मा धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणा हु समो ॥ प्रवचनसार

जैन कीर्ति स्तम्भ चित्तौड़

□ रामवल्लभ सोमानी

सन् 1967 में मुझे उदयपुर राजमहल में रखी पुरानी शिलालेखों की छापों में से एक जैन कीर्ति स्तम्भ सम्वन्धी छाप भी मिली। मैंने इसे जयपुर लाकर पं० साहव चैन सुखदास जी न्यायतीर्थ को दिखाई। इसका मूल पाठ मैंने भी पढ़ा। मुझे इस लेख के सम्वन्ध में अधिक जानकारी नहीं थी। पण्डित साहब ने लेख देखते ही मुझे अतिशय धन्यवाद दिया और कहा कि आपने तो यह महत्वपूर्ण कार्य किया है। इससे चित्तौड़ के जैन कीर्ति स्तम्भ सम्वन्धी सारी प्रचलित मान्यतायें स्वतः समाप्त हो जावेंगी। पण्डित साहब ने इस लेख को अनेकान्त में छापने को भिजवा दिया। वहां छपने के बाद इसे मेरा सन्दर्भ देकर जैन लेख संग्रह भाग 5 में भी प्रकाशित किया गया है।

इन लेखों के प्रकाशन के पूर्व विद्वानों ने जैन कीर्ति स्तम्भ को 11वीं शताव्दी से 13वीं शताव्दी के मध्य का माना है। जैनों द्वारा कीर्ति स्तम्भ स्थापित करने की परम्परा काफी प्राचीन है। वि० सं० 918 के घटियाला (मारवाड़) के लेख में दो कीर्तिस्तम्भ स्थापित करने का वर्णन है जिनमें से एक मण्डोर में और दूसरा घटियाला में (मड्डोअरम्मि एक्को षी ओ रोहिन्स कुआ गामम्मि। जेण जणस्य वा पूज्ञा ए थम्भा समुत्थ वूआ।) घटियाला का प्राचीन नाम रोहिन्स कूप था। इस समय मण्डोर का स्तम्भ तो वहां नहीं है किन्तु घटियाला में अभी लगा हुआ है। यह भी सम्भवतः वैष्णव स्तम्भ की तरह है। इस पर गणेश की चारों ओर मूर्तियां लगी हुई हैं। चित्तौड़ से वि० सं० 952 का एक शिलालेख कर्नल टाड को मिला था - इसमें 24 तीर्थंकरों, सूर्य, गणेश और नवदुर्गा आदि की स्तुति की गई है। यह लेख भी जैन कीर्तिस्तम्भ के निकट से ही मिला है। किन्तु इसका सम्वन्ध उक्त जैन कीर्तिस्तम्भ से नहीं है। चित्तौड़ का जैन कीर्तिस्तम्भ शिल्प कला की दृष्टि से वहुत ही महत्वपूर्ण है। यह 76 फीट ऊंचा और 30 फीट नीचे की ओर एवं 15 फीट ऊपर की ओर है। इस पर कई दिगम्वर जैन मूर्तियां वनी हुई हैं। मध्य में चारों ओर चार सुन्दर विस्तृत खड़ी दिगम्वर जैन मूर्तियां हैं। इतना सुन्दर कीर्तिस्तम्भ उत्तर भारत में अन्यत्र नहीं है। इसके भीतर मूर्तियां नहीं है। महाराणा कुम्भा ने इस कीर्तिस्तम्भ की प्रेरणा से नया स्तम्भ वनवाया था।

जैन कीर्तिस्तम्भ चित्तौड़ से अव तक समकालीन चार लेख मिले हैं। इनमें से तीन तो मैंने सम्पादित किये हैं और चौथा लेख पुरातत्व विभाग चित्तौड़ ने हाल ही में निकाला है। इस लेख में तिथि वि० सं० 1357 दी है और इसमें इसका और पुण्यसिंह द्वारा चित्तौड़ में स्तम्भ निर्माण का उल्लेख है। अतः इसका निर्माण वि० सं० 1357 में पूर्ण होना मानना चाहिये। इन लेखों का संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है--

(1) एक लेख जिसे मैंने अनेकान्त में प्रकाशित किया है इसमें आठ पंक्तियां है। लेख के अन्त में श्रेष्ठि जीजा का वर्णन है जो बघेरवाल जाति का था और पुण्यसिंह का पुत्र था।

(2) दूसरा लेख "निर्वाण काण्ड" के कुछ अश का है । इसे भी मैंने अनेकान्त मे प्रकाशित करा दिया है । इस लेख के अन्त मे भी जैन कीर्तिस्तम्भ के निर्माता बघेरवाल श्रेष्ठी जीजा का वर्णन है ।

(3) तीसरा लेख महत्वपूर्ण है । इसकी एक शिला नष्ट हो गई है । दूसरी शिला मे जिस पर यह लेख खुदा है श्लोक स० 21 से 45 तक दिये हुए हैं । यह शिलाखण्ड मूल रूप से गुसाई जी की समाधि नीलकण्ठ मन्दिर चित्तौड़ के पास से मिला है । स्मरेण रहे कि वह स्थान भी जैन कीर्तिस्तम्भ के पास ही स्थित है । इस समय काफी प्रयत्न करने पर भी लेख का अश मिला नही है । 19वी शताब्दी के अन्तिम वर्षों मे इस लेख की छाप ली गई थी उसे ही मैंने देखा है और सम्पादित किया है । यह छाप वीर-विनोद तैयार करते समय कविराजा श्यामलदास ने तैयार कर दी थी । इसमे श्रेष्ठि जीजा और पुण्यसिंह के परिवार का अत्यन्त विस्तार से उल्लेख किया गया है । श्रेष्ठि जीजा ने चित्तौड़, खोहट और सज्जनपुर मे जैन मन्दिर बनवाये । खोहट और सज्जनपुर 13 वी शताब्दी के चित्तौड़ के पास के महत्वपूर्ण स्थान थे । आज इन नामो के कोई नगर नही है । सम्भवत ये गाव या तो नष्ट हो गये हैं या इनके नाम नये रख दिये गये है । जीजा ने चित्तौड़ मे जैन कीर्तिस्तम्भ का निर्माण कार्य शुरु कराया था किन्तु उसकी मृत्यु हो जाने से वह यह कार्य पूर्ण नही कर सका । उसके पुत्र पुण्यसिह ने बाद मे यह कार्य पूर्ण कराया । छन्द स० 40 से 44 तक मे जैन मुनि विशाल कीर्ति, शुभकीर्ति एव धर्मचन्द्र ने पूर्ण किया था । इस लेख को भी मैंने अनेकान्त मे प्रकाशित किया है ।

(4) चौथा लेख हाल ही मे पुरातत्व विभाग ने चित्तौड़ से प्राप्त किया है । इसकी तिथि वि० स० 1357 दी है । इसमे मूलसघ बलात्कारगण के कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा मे हुये साधुओं का वर्णन है । इनमे केशवचन्द्र, अभयकीर्ति, बसन्त कीर्ति, विशाल कीर्ति, शुभकीर्ति एव धर्मचन्द्र के नाम दिये गये हैं । धर्मचन्द्र ने इस स्तम्भ की प्रतिष्ठा की थी । इस लेख मे पुण्यसिंह का नाम भी दिया है । इस लेख मे 25 पक्तिया और 29 छद हैं । इससे ज्ञात होता है कि पुण्यसिह ने उक्त स्तम्भ पूर्ण किया था । चित्तौड़ से ही प्राप्त एक अन्य लेख मे शुभकीर्ति का उल्लेख है जो महारावल जयसिंह का समकालीन था । धर्मचन्द्र उसका उत्तराधिकारी था जो वि० स० 1357 तक जीवित था ।

(5) चित्तौड़ से एक अन्य लेख वि० स० 1495 का मिला है । इसे महावीर प्रसाद प्रशस्ति के नाम से जाना जाता है । इस लेख के अनुसार इस मन्दिर और जैन कीर्तिस्तम्भ का जीर्णोद्धार श्रेष्ठि गुणराज ने किया था । यह श्वेताम्बर था । इसकी प्रतिष्ठा सोमसुन्दर ने की थी । इस लेख मे कुमारपाल द्वारा जैन कीर्तिस्तम्भ बनाने का उल्लेख किया है जो विश्वस्त नही है ।

(6) मुनि कातिसागर ने नन्दगाव (महाराष्ट्र) से प्राप्त एक लेख वि० स० 1541 के अनुसार जैन कीर्तिस्तम्भ का निर्माण पुण्यसिह ने किया था । इस लेख मे प्रसगवश जैन कीर्ति स्तम्भ चित्तौड़ के निर्माण का उल्लेख है जो लेख स० 4 के अनुसार वि० स० 1357 मे पूर्ण हुआ था ।

एस 3 ए, सत्यनगर झोटवाड़ा,
जयपुर ।

□

महायोगी गोम्मटेश्वर बाहुबली

☐ डॉ. प्रेमचन्द रावंका

अति प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष में श्रमण एवं वैदिक—ये दो मुख्य धाराएँ अनवरत प्रवाहित होती आ रही हैं। इन दोनों का भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य, कला संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में पृथूक एवं समन्वय युक्त योगदान रहा है। प्रारम्भ से ही इन दोनों ने मानव समाज को प्रभावित किया है।

आत्मोत्थान हेतु संसार की असारता पर विचार कर रागद्वेषादि विपरीत भावों पर विजय पाने के लिए आत्मश्रम/तप करने वाले श्रमण कहलाये। इसी श्रमण परम्परा में प्राणि मात्र के आत्मिक विकास में तीर्थ-स्वरूप प्रथम उपदेष्टा इक्ष्वाकुवंशोत्पन्न प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हुये। इनकी प्रथम महारानी यशस्वती से भरत और द्वितीय सुनन्दा से वाहुवली का जन्म हुआ।

एक दिन नीलांजना अप्सरा की नृत्य करते हुए आयु समाप्ति के निमित्त से ऋषभदेव को वैराग्य हो गया। उन्होंने अपने बड़े पुत्र भरत को सम्राट पद पर अभिषिक्त कर अयोध्या का और छोटे पुत्र वाहुवली को युवराज बनाकर पोदनपुर का राज्य प्रदान किया और स्वयं दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर आत्म-साधना में लग गये।

एक दिन अयोध्यापति भरत को एक साथ तीन शुभ समाचार मिलें। १. पिता ऋषभदेव को कैवल्य की प्राप्ति, २. आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति और ३. अन्तःपुर में पुत्ररत्न का जन्म। विवेकी भरत ने सर्व प्रथम केवल ज्ञान की पूजा की। अनन्तर चक्ररत्न की पूजा कर सोल्लास पुत्र जन्मोत्सव मनाया। पुनः चक्रवर्ती पद के नियोग स्वरूप दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया।

समस्त राजाओं, विद्याधरों और देवों को नम्रीभूत करते हुए सम्राट भरत ने दिग्विजय में सफल होकर अनेक देशों, नदियों और पर्वतों को पार करते हुए कैलाश पर्वत पर जाकर समवशरण में भ. ऋषभदेव की वन्दना की और फिर अपनी अपूर्व सेना के साथ अयोध्या की ओर प्रस्थान किया। परन्तु 'चक्ररत्न' गोपुर द्वार (नगर प्रवेश द्वार) के पास जाकर रुक गया। भरत बड़े आश्चर्य में पड़ गये कि जो सम्पूर्ण दिशाओं में विजय प्राप्त कर पूर्व पश्चिम समुद्र में कहीं नहीं रुका, वह चक्ररत्न आज मेरे ही घर के आँगन में क्यों कर रुक गया है?

राजपुरोहित ने निवेदन किया—"राजन्! यह राज विद्या केवल आपको उत्पन्न हुई है, अतः मैं क्या खोज सकता हूँ। फिर भी निमित्त ज्ञानियों के कथनानुसार—चक्ररत्न तब तक विश्राम नहीं लेता, जब तक कि दिग्विजय में कुछ भी जीतना शेष रह गया हो। चूंकि आपके

समस्त शत्रु पक्ष को जीत लिया है, फिर भी आपके अनुज आपके प्रति नम्र नही हैं । "—यह सुनकर चक्रवर्ती भरत साश्चर्य चिन्तामग्न हो गये—मेरी गोद मे खेलकर बड़ा हुआ मेरा छोटा भाई आज मुझे नही मानता । राजपुरोहित ने वताया—आपके अनुज वहुवली वलशाली हैं । वे परिवारीय होने से अजेय हैं । या तो वे स्वय आकर आपकी शरण लेवे या भगवान ऋषभदेव की। इसके सिवाय इस चक्ररत्न को अयोध्या मे प्रवेश कराने के लिये और कोई उपाय नही है ।

चक्रवर्ती भरत ने मत्रियो से मत्रणा कर एक कुशल दूत को वाहुवली के पास भेजा । दूत ने भरत के समस्त दिग्विजय के प्रभाव को सुनाते हुये वाहुवली को भी उनके प्रति नम्र करने के लिए शाम, दाम और भेद आदि नीतियो का व्यवहार किया, परन्तु सौम्य व गम्भीर वाहुवली के समक्ष उसका दूतत्व सिद्ध नही हो सका ।

वाहुवली का स्पष्ट उत्तर था कि वे भरत के अधीन होकर नही रहेगे । रण भूमि ही चक्रवर्ती के चक्ररत्न की परीक्षा करेगी । वाहुवली के द्वारा भरत के चक्रवर्तीत्व को अस्वीकार करने पर भरत थोड़े चिन्तित हुए कि भाई-भाई का युद्ध कहाँ तक उचित है ? पर अन्य कोई उपाय न रहने पर दोनो की ओर की सेना आमने-सामने आ डटी । युद्ध की विभीपिका की आशका ने दोनो ओर के विवेकी लोगो ने निर्णय किया कि दोनो भ्रात्ताओं के चरम शरीरी होने से इस युद्ध मे केवल सैनिको का ही विनाश होगा । अत दोनो ही पर 'धर्मयुद्ध' कर हार-जीत निश्चित कर ले । तव दोनो के लिए दृष्टि युद्ध, जल युद्ध और मल्ल युद्ध निर्धारित किये गये ।

सुवर्ण वर्णी भरत चक्रवर्ती और शुक्र वर्णी कामदेव वाहुवली दोनो भ्राताओं मे युद्ध आरम्भ हुआ । भरत कद मे छोटे और वाहुवली वड़े थे । तीनो ही युद्ध मे वाहुवली विजयी वने । अपना अपमान समझकर क्रोधित भरत ने अतिम अस्त्र 'चक्र' को वाहुवलि पर चला दिया । परन्तु चक्र वाहुवलि के पास जाकर तीन प्रदक्षिणा दे निस्तेज होकर लौट आया । 'चक्र' वश का घात नही करता । उस समय वड़े-वड़े राजा भरत को धिक्कारने लगे । इससे भरत और अधिक दु खी हुये ।

वाहुवली के समीप आकर राजा गण प्रशसा करने लगे । परन्तु स्वय ने मन ही मन ससार, शरीर और भोगो से विरक्त होने लगे-कहा ये मेरे वड़े भ्राता जिन्होंने मुझे पुत्रवत् पाला और कहा यह दुर्भाव कि मुझ पर ही चक्र चला दिया । धिक्कार है इस ससार को और इस राज्य को । यह शरीर भी एक दिन यमराज का ग्रास वन जाने वाला है । जरा इसे जर्जरित कर देता है । इस शरीर की सफलता इसी से है कि इसे तपश्चर्या द्वारा ही सुख दिया जावे । यह विचार कर पराजित सम्राट भरत से क्षमा याचना द्वारा मन निर्मल कर अपने पुत्र महावली को शासन भार सौंप कर, सम्पूर्ण अतरग- वहिरग परिग्रहो का त्याग कर वाहुवली ने भ ऋषभदेव के चरणो मे दीक्षा ली, वन मे जाकर एक वर्ष का प्रतिमा योग धारण कर एक ही स्थान पर एक ही आसन मे निश्चल खड़े होकर आत्मध्यान मे लीन हो गये । न आहार, न विहार, न निहार, न निद्रा-तन्द्रा कई माह व्यतीत हो गये, उनके समीप का स्थान वन की लताओं से व्याप्त हो गया । इनके चरणो के निकट ही सर्पो ने वाविया वनाली । वावियो से निकल कर सर्पो के वच्चे उछलने लगे । वे अपने छोटे छोटे फनो से योग साधनारत महर्पि वाहुवली की प्रशान्त मुद्रा को देखने लगे । लताये उन्हे चरणो और भुजाओं से लिपटी मानो मुक्ति वल्लभा वरमाला पहिनाये जा रही हो ।

विकल्प रहित चित्त वृति धारण ही अध्यात्म है। ऐसा निश्चय कर वे महायोगी निर्विकल्प ध्यान के अभ्यास में तल्लीन हो गये। इस स्थिति में शीत, वात वर्षा सवको जीत गये। पिता ऋषभ देव ने छह मास का योग लिया; तो पुत्र वाहुवली ने एक वर्ष का प्रतिमा योग। भरत चक्रवर्ती की विजित सम्पदा को तृणवत तुच्छ समझ कर तिरस्कार करने वाले वाहुवली अपने ध्यान में अनुत्तर योगी-योग चक्रेश्वर बन गये। उनकी अनुत्तर योग साधना से अनेक बार देवों के आसन कम्पित हुये और उनसे वन्दित हुये।

प्रतिमा योग धारण किये हुये एक वर्ष पूर्ण हो रहा था, कैवल्य की प्राप्ति होने को थी, परन्तु मन में भरत के प्रति सौहार्द स्वरूप यह विचार आ जाया करता था कि वे भरतेश्वर मेरे द्वारा संक्लेश को प्राप्त हुये हैं, मेरे निमित्त से उन्हें दुःख पहुंचा है। उधर भरत भी अपने कृत्य से खिन्न थे। वे अपने अपराध की क्षमा याचना के लिये योग चक्रेश्वर वाहुवली के चरणों में पहुंचे और उनके ध्यान के प्रभाव को देख अतिशय गद्गद होते हुये भक्ति भाव से साष्टांग नत हो चरणों में गिर पड़े और कल्पवृक्षों की दिव्य सामग्री से चरणों की पूजा की। उसी समय वाहुवली को कैवल्य प्राप्त हो गया। इन्द्रों के आसन कम्पित हो उठे। देवों ने आकर गंधकुटी और धर्म सभा की संरचना की। जिसमें देव देवियां ऋषि-मुनि, आर्यिकाएं, श्रावक-श्राविकाएं, पशु-पक्षी सभी एकत्र हो केवल ज्ञानी वाहुवली की दिव्य ध्वनि का श्रवण करने लगे। तदनन्तर चिरकाल तक धर्मोपदेश देते हुये महायोगी वाहुवली ने अन्त में कैलाश पर्वत पर पहुंच, योग निरोध कर, अपने पिता ऋषभदेव से पूर्व ही शाश्वत-मुक्ति अव्यावाध सुख प्राप्त किया।

भगवान वाहुवली की विस्मयकारी उत्कट तपःसाधना से प्रभावित हो, जन-जन में उनकी उच्च साधना को प्रचारित करने एवं स्थायी स्मृति की दृष्टि से भक्तिवश भरत चक्रवर्ती ने ५२५ धनुष प्रमाण पन्ना की अतिशय मनोज्ञ मूर्ति का निर्माण कराकर उसे तक्ष शिला के पास पोदनपुर में विराजमान किया। जो आज अनुपलव्ध है। (पेशावर)

भगवान वाहुवली की ५७ फुट ऊंची विशाल मूर्ति जो विश्व का ७वां आश्चर्य है, कर्नाटक प्रांत में श्रवण वेलगोला में विद्यमान है। आज से ठीक एक हजार वर्ष पूर्व सन् ८९१ में आचार्य नेमिचन्द्र के शिष्य, दक्षिण भारत में तालक्काड़ के गंगवंशीय राजा रायमल्ल के प्रधान अमात्य एवं सेनापति वीर चामुण्डराय द्वारा निर्मापित इस भव्य, मनोहारी, दर्शनीय मूर्ति के निर्माण की रोमांचकारी कथा है -

किसी समय मुनिराज अजितसेन के श्री मुख से भरत राज द्वारा तक्षशिला के पास पोदनपुर में निर्मापित पन्ने की वाहुवली की मूर्ति की अतिशय महिमा को सुनकर वीर चामुण्डराय की माता कालवा देवी के मन में मूर्ति दर्शन की प्रवल भावना हुई। माता ने दर्शन न होने तक दूध का परित्याग कर दिया। वीर चामुण्डराय ने मातृ भक्ति से प्रेरित हो माता के नियम के निर्वाह हेतु अपने गुरु माता से पत्नी के साथ यात्रा के लिये प्रस्थान किया। बीच में एक दिन किसी स्थान पर ठहरे। रात्रि के पिछले प्रहर में चामुण्डराय को स्वप्न में उस स्थान की शासन देवी कूष्माण्डिनी ने कहा- वत्स ! तुम्हारी पोदनपुर की यात्रा व्यर्थ है; क्योंकि वहां वाहुवली की मूर्ति के दर्शन नहीं हो सकेंगे। उस मूर्ति को कुक्कुट सर्पों ने ढंक लिया है। मैं तुम्हारी मातृ भक्ति से प्रसन्न हूं। अतः प्रातः पास वाली पहाड़ी में एक सोने का वाण छोड़ो वह जहां रुक जायेगा, वहीं वाहुवली की मूर्ति के दर्शन होंगे।

प्रात चामुण्डराय ने माता से स्वप्न की वात कही । आश्चर्य यह है कि माता को भी यही स्वप्न आया था । माता और पुत्र ने गुरु से निवेदन किया, परन्तु गुरुदेव को भी यही स्वप्न हुआ था । तव गुरुदेव नेमिचन्द्र की आज्ञानुसार चामुण्डराय ने श्रवण-वेल्गोला स्थित चन्द्र गिरि पर्वत से स्वर्णिम वाण छोड़ा जो सामने की विन्ध्यगिरि के शिखर पर स्थित एक दीर्घकाय शिला से जा टकराया । उस पापाण खण्ड मे चामुण्डराय को वाहुवली की दिव्य रेखा चित्र के दर्शन हुये । उसी चित्र के आधार पर मूर्ति का निर्माण कराया गया ।

उस रेखा चित्र के विपय मे एक किंवदत्ती यह है कि लका विजय के पश्चात् मर्यादा पुरुपोत्तम श्री राम अयोध्या लौटते समय सपरिवार यहा ठहरे थे । सती सीता पूजा के लिये पन्ने की वनी वाहुवली स्वामी की मूर्ति साथ लायी थी । कुछ दिन वाद प्रस्थान के समय वह मूर्ति वहा स्थिर हो गई । तव श्री राम ने अपने धनुप से वही शिला खण्ड पर उस मूर्ति की अनुकृति रेखा खीच दी । समय वीतता गया । कालातर मे उस शिला खड पर मिट्टी जम गई और छोटे-छोटे पेड़ पौधे उग आये । जव वीर चामुण्डराय का सुर्वण वाण उस शिला पर लगा तो मिट्टी के हट जाने से श्री राम द्वारा अकित मूर्ति की रेखा दिखायी देने लगी । साफ करने पर मूर्ति पूरा रेखा चित्र दिखायी देने लगा । वीर चामुण्डराय के वाण छोड़ने पर पर्वतीय शिखर की परते गिरने लगी । वाहुवलि की मूर्ति का मस्तक भाग दिखायी दे गया । परन्तु आगे का नही । तव आचार्य नेमिचन्द्र की आज्ञा से वीर सेनापति चामुण्डराय ने राज्य के प्रधान शिल्पी अरिष्ट नेमि के द्वारा हजारो कलाकारो के सहयोग से १२ वर्प अवधि मे विशालकाय एक ही पापाण शिला की ५७ फीट प्रमाण का निर्माण कराया और शिल्पकार की शर्तानुसार पापाण खण्डो के वजन के वरावर सुवर्ण देकर कृतार्थ किया ।

तदनन्तर शास्त्रीय विधि से स्वय चामुण्डराय ने गुरु निर्देशन मे दूध स भर १००८ कलशो से मूर्ति का अभिपेक किया, किन्तु आश्चर्य कि मूर्ति के वक्षस्थल से नीचे धारा नही उतरी । सव विस्मित एव चिन्तित हो उठे । तभी भीड़ मे एक एक वृद्धा माता छोटे से कलशे मे दूध लेकर आयी और अभिपेक करना चाहा । चामुण्डराय ने हसते हुये कहा कि तुम्हारे इस कलशे से क्या होगा ?" परन्तु वृद्धा माता ने आग्रह कर जैसे ही दूघ की धारा छोड़ी, तत्काल दुग्ध की अखड धारा वह चली और वाहुवली की मूर्ति का सर्वांग अभिपेक करते हुये, विन्ध्यगिरि को अभिपेक कर प्रागण मे वह चली, मानो वाहुवली का उज्वल यश ही सर्वत्र फैल रहा हो । वृद्धा द्वारा अत्यन्त लघु कलश द्वारा अभिपेक की सार्थकता इस वात की साक्षी है कि अतुल धन राशि से भक्ति और धर्म नही खरीदा जा सकता है, इसके लिये तो मन की निर्मलता, निरहकारिता ही चाहिये ।

चामुण्डराय के घर का नाम 'गोम्मट' था । उनके इस मातृ प्रिय नाम के कारण ही वाहुवली की मूर्ति भी 'गोम्मटेश्वर' कहलायी । यह विशाल मूर्ति अपनी वीतरागता एव सौम्य छवि के कारण दर्शको के हृदय मे अपूर्व शान्ति प्रदान करती है जो उनके अप्रतिम त्याग एव तपश्चरण का प्रभाव है । प्रत्येक १२ वर्प वाद उसके महा मस्तकाभिपेक की परम्परा है । ऐसे महायोगी गोम्मटेश्वर वाहुवली को शतश नमन !!!

'त गोम्मटेश्वरं जिन प्रणमामि नित्यम् ॥'

प्राचार्य रा स कॉलेज, महापुरा,

☐

जैन व्रत और पर्वः श्रमण संस्कृति की अपूर्व देन

☐ डॉ. शीतलचन्द्र जैन

जैन धर्म भारत के सांस्कृतिक इतिहास में आर्हतधर्म, जिन धर्म, श्रमण परम्परा, निर्ग्रन्थपरम्परा, तीर्थकर परम्परा, आदि नामों से अभिहित हुआ है ।

वैदिक साहित्य में उल्लिखित शिश्नदेव, हिरण्य गर्भ, वातरशना, केशीमुनि, व्रात्य, यति निर्ग्रन्थ, श्रमण आदि का सम्बन्ध जैन परम्परा से माना जाता है ।

जैन परम्परा के सम्पूर्ण सन्दर्भ इस विषय में एक मत है कि जैन धर्म अनादि है । भ. ऋृषभदेव इसके संस्थापक न होकर प्रवर्तक हैं । और भ. महावीर जैन तीर्थकर परम्परा के अन्तिम कड़ी थे । इसलिये वर्तमान में उपलब्ध जैन परम्परा श्रमण परम्परा का सीधा सम्वन्ध तीर्थकर महावीर से है ।

इस काल में जैन धर्म के प्रवर्तक भ. ऋृषभदेव थे, और भ. ऋृपभ देव को श्रमण परम्परा में जाना जाता है । अतः श्रमण ऋृषभदेव द्वारा प्रवर्तित संस्कृति श्रमन संस्कृति कही जाती है ।

श्रमणशव्द 'श्रम' धातु से वना है जिसका अर्थ है, उद्योग करना, परिश्रम करना अर्थात वह प्राणी जो अपने श्रम के वल पर राग-द्वेष आदि विकृतभावों का शमन करते हुए सभी पदार्थों एवं प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, वही श्रमण है ।

जैन श्रमण को जैन एवं जैनेतर साहित्य में अनेक सम्वोधनों से सम्वोधित किया गया है, जैसे अनगार, आर्य, अपरिग्रही, अहीक, अकच्छ, अचेलक, दिगम्वर, तपस्वी, गणी, दिग्वास, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि ।

भारत में अनेक संस्कृतियां विधमान है और प्रत्येक संस्कृति में पर्व और व्रत भी है । पर्व और व्रतों का संस्कृति के साथ घनिष्ट सम्वन्ध है । श्रमण संस्कृति और वैदिक संस्कृति के पर्व और व्रत एक दूसरे के पूरक है विरोधी नहीं, परन्तु कुछ ऐसी भी संस्कृतियां है जिनके पर्व और व्रत श्रमण संस्कृति से ही नहीं अपितु भारतीय संस्कृति के [illegible] से मेल नहीं रखते है ।

श्रमण संस्कृति अहिंसा प्रधान संस्कृति है । इस संस्कृति में [illegible] अभ्युदय की उपलब्धि, जीवन में प्रगति एवं प्रेरणा प्राप्ति के लिये [illegible], पर्व और व्रतों की साधना आवश्यक मानी गई है । व्रत शब्द की [illegible] गया है कि -

सकल्पपूर्वक सेव्यो नियमोऽशुभकर्मण ।
निवृत्तिर्वा व्रत स्याद्वा प्रवृति शुभकर्मणि ॥

अर्थात सेवन करने योग्य विषयो मे सकल्प पूर्वक नियम करना अथवा हिंसादि अशुभ कर्मों से सकल्पपूर्वक विरक्त होना अथवा पात्र दानादि शुभकर्मो मे सकल्प पूर्वक प्रवृति करना व्रत है ।

व्रताचरण की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा है कि -

व्रतेन यो विना प्राणी पशुरेव न सशय ।
योग्यायोग्य न जानाति भेदस्तत्र कुतो भवेत् ॥

व्रत रहित प्राणी निस्सदेह पशु के समान है । जिसे उचित अनुचित का ज्ञान नही, ऐसे मनुष्य और पशु मे क्या भेद है ? अत व्रत-विधान करना प्रत्येक नर-नारी के लिये आवश्यक है ।

व्रतो के फला के सम्वन्ध मे पर्याप्त विवेचन किया गया है । वसुनन्दि आचार्य ने कहा है कि -

फलमेयस्से मोत्तूण देवमणुएसु इदियजसुक्ख ।
पच्छा पावइ मोक्ख धुठिज्ञभागो सुरिं देहि ॥

व्रतो के पालन करने के फल से यह जीव देव और मनुष्यो मे इन्द्रिय जनित सुख भोगकर, पश्चात् देवेन्द्रो से स्तुति किया जाता हुआ मोक्ष पद प्राप्त करता है ।

व्रतो की सख्या के सम्वन्ध मे विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रथम शताब्दि के पूर्व व्रतो की सख्या वहुत थोड़ी थी परन्तु पुराणकाल अर्थात नौवी शताब्दि मे व्रतो की सख्या मे काफी विकास हुआ ।

व्रतो को दो कोटियो मे विभक्त किया जा सकता है ।

(१) प्रथम कोटि आत्मशोधन हेतु व्रत

(२) द्वितीय कोटि-लौकिक अभ्युदय की उपलब्धि हेतु व्रत

प्रथम कोटि मे श्रावकचारो मे वर्णित पाँच अहिसा व्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत कुल वारह व्रतो का ही वर्णन है । इन वारह व्रतो मे अहिसाव्रत, अचौर्यव्रत, सत्यव्रत, व्रह्मचर्यव्रत और अपरिग्रहव्रत ये पाच व्रत ऐसे हैं जो गृहस्थ और साधुओं की आचार सहिता की व्यवस्था करते हैं । इन पाच व्रतो का गृहस्थ एक देश अर्थात अणु (थोड़े) रूप मे पालन करता है । और साधु पूर्णरूपेण पालन करते हे । श्रमण सस्कृति मे व्रताचरण के पूर्व व्यक्ति की दृष्टि सम्यक् होना जरुरी हे ।

द्वितीय कोटि मे पुराणो मे वर्णित लौकिक अभ्युदय की उपलब्धि के हेतु किये जाने वाले व्रतो का विवरण है जिन्हे नौ कोटियो मे विभक्त किया जा सकता है ।

(1) सावधिव्रत — तिथि और दिनो की अवधि से किये जाने वाले व्रत जिनकी सख्या लगभग 15 है ।

(2) निरवधि — जिन व्रतो के करने की कोई अवधि निश्चित नही है ऐसे व्रता की सख्या 7 हैं ।

(3) **दैवसिक :** इन व्रतों में दिनों की प्रधानता रहती है ।

(4) **रात्रिक :** रात्रि में चारों प्रकार के आहारों का त्याग की प्रधानता रहती है ।

(5) **मासावधि :** जिन व्रतों की अवधि महिने की होती है ।

(6) **वर्षावधि :** जिन व्रतों की अवधि वर्षों तक चलती है ।

(7) **काम्य :** जो व्रत किसी अभीष्ट कामना की दृष्टि से किये जाते हैं ।

(8) **अकाम्य :** जो व्रत निष्काम दृष्टि से किये जाते हैं ।

(9) **उत्तमार्थ :** जो व्रत उत्तम प्रयोजन प्राप्ति हेतु किये जाते हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रमण संस्कृति में व्रतों की संख्या लगभग 100 से ऊपर हैं । जिस संख्या में व्रत है उसी संख्या में पर्व भी है ।

श्रमण संस्कृति के अनुसार नवीन वर्ष का प्रारम्भ श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को होता है । इस दिन भ. महावीर की प्रथम दिव्य ध्वनि (दिव्योपदेश) खिरी थी । अतः यह दिन वीरशासन जयन्ति पर्व के रूप में मनाया जाता है । इसी प्रकार भगवान पार्श्वनाथ का निर्माण दिवस पर्व, रक्षा वन्धन पर्व, दीपावली पर्व, श्रुतपञ्चमी पर्व, पर्यूषणपर्व, पोड्शकारण पर्व आदि पर्व हैं । इस प्रकार पर्वों की संख्या को दो कोटि मे विभक्त किया जा सकता है ।

(1) शाश्वत पर्व (अनादि काल से चले आ रहे पर्व)

(2) सामयिक पर्व (तात्कालिक पर्व)

तात्कालिक पर्व व्यक्ति विशेष से सम्वन्धित हो सकते है और घटना विशेप से भी हो सकते हैं । जयन्ति पर्व एवं निर्वाण पर्व इसी प्रकार के पर्व हैं ।

उक्त परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार पर्व और व्रतों का संस्कृति के साथ घनिष्ट सम्वन्ध है उसी प्रकार व्रतों का पर्वों के साथ घनिष्ठ सम्वन्ध है । श्रमण संस्कृति में पर्व का महत्व तभी है जव उसके साथ व्रत हो। यदि पर्व के साथ व्रत नही है तो वह पर्व निरर्थक है । जैसे श्रमण संस्कृति में होली एवं विजयादशमी आदि पर्वो का कोई महत्व नही है क्योंकि इन पर्वो के साथ व्रतों का कोई भी विधान नहीं है ।

जैसा कि पूर्व में उल्लेखित किया गया है कि 12 व्रत वस्तुतः श्रमण संस्कृति के मूलव्रत है । इनके परिप्रेक्ष्य में जैन व्रत और पर्व मानव मात्र के कल्याण के लिये ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के कल्याण के लिये है । जैन व्रतों और पर्वों में मूलरूप से अहिंसा व्रत की भावना है । अतः व्रतों की साधना के लिये श्रमण संस्कृति में साधनों की पवित्रता पर भी अविक वल दिया गया । यही कारण है जैन धर्मानुयायी आजिविका के लिये ऐसे साधनों का चुनाव करता है जिसमें में हिंसा न हो । कृपि, वाणिज्य और सेवा में से वाणिज्य में अहिंसा का निर्वाह हो सकता है अन्य में नही । कृपि में भूमि, जल और वनस्पति का प्रयोग होता है और नौकरी पेशा में व्यक्ति स्वातंत्र्य के खण्डित होने की सम्भावनाओं से इनकार नहीं किया जा सकता है । वाणिज्य या व्यापार में हिसा विल्कुल न होती हो यह बात नहीं फिर भी कृषि की अपेक्षा कम होती है । इसी कारण जैन धर्मानुयायियों ने वाणिज्य को प्राथमिकता दी । वाणिज्य में भी हिसा वहुल व्यापार का निपेध है । यही कारण है कि प्रायः जैनी चमड़ा, मांस या इसी प्रकार के हिंसक व्यापार नही कर सकता, सेवा में भी बंदूक या कसाई के यहां नौकरी नहीं कर सकता ।

इसी प्रकार जैन व्रतो का पालन करने वाले के लिये मादक वस्तुओं का प्रयोग, जुआ खेलना, वेश्यागमन करना आदि जो अपव्यय और वहुव्यय के कारण है उनका दृढ़ता से निषेध किया गया है ।

भोग और उपभोग सामग्री का परिमाण करने अर्थात सीमित साधनो का उपयोग करने का विधान होने के कारण साधन सामग्री का सुरक्षित रूप से शेष वच जाना स्वाभाविक है । पचव्रत (अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) पालन करने के वास्ते श्रमण सस्कृति के अनुयायी जैन (विशेषत उत्तर भारत मे) वाणिज्य व्यवसाय मे अधिक केन्द्रित होते गये और उनके पास साधन सामग्री भी सकलित होते गये । इसका सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से दोहरा लाभ हुआ । एक तो भाग दान का विधान होने से जैन व्रती श्रावक सचित्त साधनो का समाज मे विनियोग और वितरण करते रहे, दूसरी ओर कला और शिल्प निर्मितियो आदि मे महनीय योगदान दिया । अत स्पष्ट सिद्ध है कि भारतीय सस्कृति के लिये व्रत और पर्व श्रमण सस्कृति की अपूर्व देन है ।

❑

जयपुर के निकट रामगढ़ रोड़ पर स्थित जयसिंहपुरा खोर का दर्शनीय नेमीनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर

लगभग ८ हजार की आवादी वाले ग्राम मे सभी सुविधाये हैं । इस ग्राम का मुख्य आकर्षण यहाँ का श्रेयास नाथ स्वामी का दिगम्बर जैन मन्दिर गोधान है जो २६७ वर्ष पूर्व मे निर्मित हुआ था । दो चोक का यह विशाल जैन मन्दिर अपनी कला के लिए प्रसिद्ध है । मन्दिर की मूल वेदी सगमरमर की कलापूर्ण वेदी है और इसमे भगवान श्रेयासनाथ स्वामी की मूलनायक प्रतिमा विराजमान है । कहते कि नानू गोधा नामक एक सम्पन्न व्यक्ति ने सम्वत् १६६४ मे इस भव्य प्रतिमा की मौजमावाद मे प्रतिष्ठा करवाई थी । यह ३८५ वर्ष प्राचीन है ।

मूल प्रतिमा के दोनो ओर सम्भवनाथ स्वामी व शान्तिनाथ स्वामी की २६६ और ३९८ वर्ष पुरानी प्रतिमाए हैं । यही नीचे ३०८ वर्ष पूर्व भगवान महावीर स्वामी की मूर्ति प्रतिष्ठित है । अन्य मूर्तियो में ४६४ वर्ष पूर्व की पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा और ५५७ वर्ष प्राचीन आदिनाथ भगवान की प्रतिमा भी है । शान्तिनाथ भगवान की प्रतिमा २६६ वर्ष पूर्व की है ।

इस तरह मूल वेदी मे विराजमान सात प्रतिमाओं के अतिरिक्त मन्दिर की परिक्रमा मे सगमरमर की वेदियो मे पाँच और मूर्तियाँ दर्शनो के लिये सुलभ हैं जिनमे भगवान नेमीनाथ स्वामी की २५५ वर्ष पूर्व एव भगवान महावीर स्वामी की २६६ वर्ष पूर्व की प्रतिमा भी दर्शनीय है । इनमे एक विशाल पद्मासन मूर्ति आदिनाथ भगवान की है जो २६६ वर्ष प्राचीन है । अजितनाथ स्वामी की मूर्ति २६६ वर्ष प्राचीन व पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति भी २६६ वर्ष प्राचीन है ।

पार्श्वनाथ भगवान की श्याम वर्ण की आकर्षक चमत्कारी प्रतिमा यहा का विशेष आकर्षण है । यद्यपि यहाँ का विशाल दिगम्बर जैन मन्दिर कोई २६७ वर्ष का ही निर्मित हुआ था लेकिन यहाँ प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ अति प्राचीन हैं । मन्दिर मे उपलब्ध शिलालेख इसका प्रमाण हैं । इस प्राचीन मन्दिर का शनै शनै नवीनीकरण एव जीर्णोद्वार हुआ है । गम्भीर मनन और ध्यान के लिए यहाँ उपयुक्त वातावरण है । पर्यावरण की विषमताओं से दूर जयसिंहपुराखोर का यह प्राचीन देवालय आनन्द की अनुभूति और मन की शान्ति के लिए सुन्दर स्थान है ।

एक अप्रतिम-सरस्वती

☐ डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी

प्रतिमा संसार में ज्ञान एवं ललितकला की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की प्रतिमाएँ उपलब्ध होती है, चाहे पुलूर की बीकानेर की श्वेत संगमरमर की मनोज्ञ सरस्वती हो या अष्टभुजी मंदिर की सरस्वती अथवा चित्र या धातुशिल्प में रुपायित सरस्वती।

इन्हें विद्वानों की माँ भी कहा गया है। इन्हीं की कृपा से विद्वान की वाग्धारा फूट पड़ती है जिसमें विज्ञ समाज भी अवगाहन कर आल्हादित हो उठता है। कवि शारदा माँ के तव ही तो सान्निध्य की चाह करता हुआ कहता है :

"शारदा शारदा अंभोज वन्दना वदनाम्वुजे।
सर्वदा सर्वदा अस्माकम् सान्निध्यं सान्धिर्ध्यक्रियात् ॥"

कवि आगे इन्हीं के ध्यान में विभोर हो कर कह उठता है :

"आशासुराशि भवदङ्गवल्ली भावैवदासीकृत दुग्ध सिन्धु।
मन्द स्मृतै निन्दित शारदेन्दु, वन्दे अरविन्दासन सुन्दरीत्वाम्।"

सरस्वती देवी को कभी तो कमल का आसन मिलता है, कभी हँस का। इनकी वीणा के नाद से मोहित हिरण भी आ जाते हैं (रा. संग्र. सं. 56.412)। पूलूर की सरस्वती तो स्थानक (खड़ी) है व वस्त्राभूपणों से समलंकृत ऐसी प्रतीत होती है मानों मक्खन से प्रतिमा ढली हो। यह कलानिधि राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली की सम्पत्ति है। इसी समय (12वीं शती) व ठीक ऐसी ही मूर्ति बीकानेर, राजस्थान के संग्रहालय में भी सुशोभित है।

किन्तु आलोच्य मूर्ति (रा. संग्र. जे. 24) में कोई भी आकर्पण नहीं है। मात्रदोहरी आधारपीठिका पर एक खंडित मूर्ति गोदूहिकासन (गाय दुहने की स्थिति) में दो भुजी वैठी है। देवी के दाँयीं भुजा पर उत्तरीय है जो अधोभाग व चरणों के ऊपर को स्पर्श करता है। दाँये हाथ में कंगन व वाँयीं कलाई में अक्षमाली वाँधे हुए है तथा वाँयें हाथ में अक्षमाला ले रखी थी जिसके चार मनके ही शेप हैं। दाँये हाथ से लम्बी पोथी को पकड़ रखा है। कन्धे के समानान्तर भी आकृतियाँ थी जिनके चरणमात्र ही शेप हैं। नीचे दाँयीं ओर वस्त्रधारी पुरुप श्रद्धावनत खड़ा है। वाँयीं ओर एक पुरुप आकृति है जो वाँयें हाथ में पात्र तथा दाँये हाथ में नग्नता को छिपाने हेतु वस्त्र खण्ड लिए है। ठीक ऐसी ही आकृतियाँ जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं की चरण चौकियों में भी दृष्टिगोचर होती है इन्हें "अर्द्ध फालक" कहते हैं।

प्रतिमा की चरण चौकी पर सात पंक्तियों में ब्राह्मी लिपि लेख उत्कीर्णित है। इसमें उल्लेख है :

1. [सिद्ध] संव 50, 4 हेमन्त मासे चतुर्थे 4 दिवसे 10 अ
2. र्यस पूर्व्वर्याम कोट्टियतो गणतो स्थानियतो कुलतो
3. वैरातो शाखातों श्रीगृहतो संभोग तो वाचकार्य्य

4 हस्तिअस्तिस्य शिष्यो गणिस्य अर्य्य मग्गहस्तिस्य सदाचारतो वाचकस्य अ

5 उपदेवस्य निव्वर्तने गोवस्य सिहपुत्रस्यलोहिककारूकस्य दान

6 सर्व्व सत्वा हित सुख एक सरस्वती प्रतिस्थापिता अवतले रगनरतनो

7 मे[1]
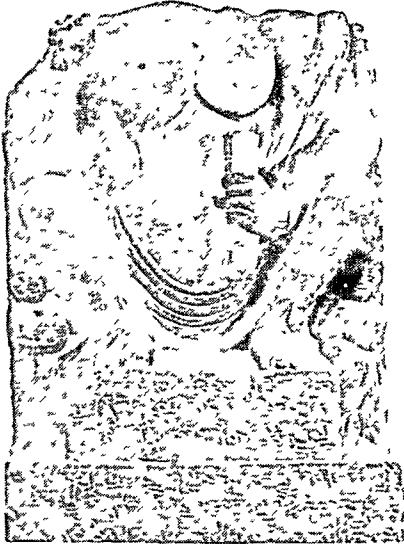
जे 24 सवत 54+ 78 = 132 ई की सरस्वती प्रतिमा
ककाली टीला, मथुरा

अर्थात् सवत् 50 + 4 = 54 + 78 (कनिष्क की प्राय सर्वमान्य तिथि) = 132 ई । लोहे का काम करने वाले सिंह पुत्र के दान से रगमडप जो पृथ्वीतल पर था उसमे एक सरस्वती मूर्ति सब लोगो के हित सुख के लिए स्थापित करवायी । यह ककाली टीला मथुरा से प्राप्त हुई है ।

1 इपी इडि व्लूम 1 पृ 391/ न XXI इडि एन्टी व्लूम XXXIII p 104 न 17 स्मिथ वी ए जैनस्तूप एण्ड प्लेट XCIX

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस मूर्ति में कोई आकर्षण नहीं है किन्तु "तिथि" तथा "एक सरस्वती" उत्कीर्ण होने के कारण यह मूर्ति सर्वप्राचीन तो स्वतः सिद्ध होती है ।
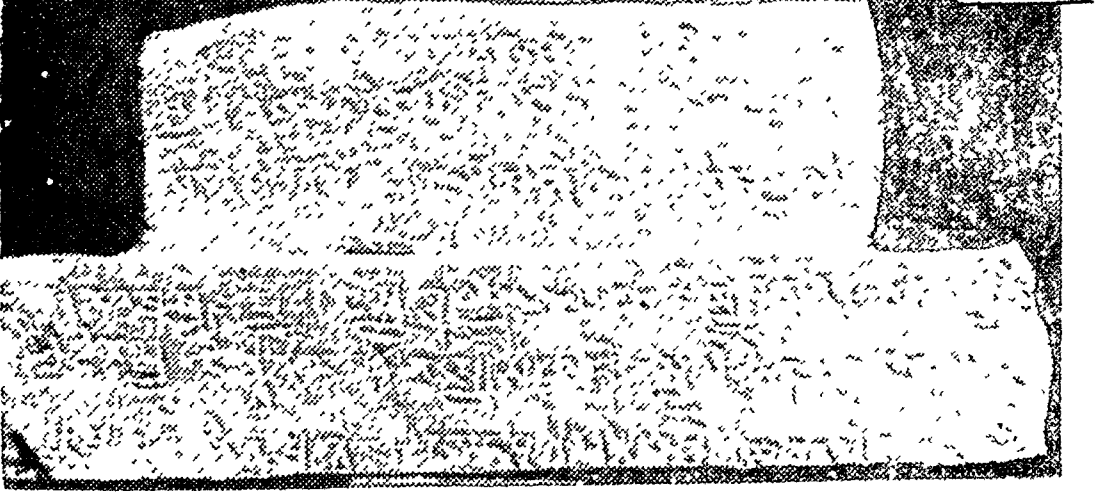
जे-२४ सरस्वती की अभिलिखित चरदार चौकी

एक अन्य मूर्ति (जे. 23) भी खंडित है जो कि संवत् 50 + 2 = 52 + 78 = 130 ई. की है । इसमें मात्र मोटी झॉझ पहने दो चरणमात्र ही शेष हैं किन्तु आचार्य लौहकारूकादि तो ठीक (जे. 24) वैसे ही है, किन्तु देवी का या रंगमंडपादि का अभाव है । आभूषण के आधार पर इसे लक्ष्मी प्रतिमा माना जाता है यद्यपि पुष्टि प्रमाण नहीं है । किन्तु (जे 24) में चूंकि सरस्वती के साथ अर्द्ध फालक भी उपस्थित है अतः हॅस, वीणा व कमलासन के अभाव में भी क्या इसे सरस्वती की अप्रतिम प्रतिमा मानने में कोई आपत्ति शेष है ?

माता सरस्वती के श्रीचरणों में निम्न स्तुतियों के लिपिवद्ध करने के लोभ को मैं सँवरित नहीं कर पा रहा हूँ यथा;

"विद्याधरेन्द्रसुरयक्षसमस्त वृन्दैः
वागीश्वरि प्रतिदिनं ममरक्षदेविः ।
सरस्वत्याः प्रसादेन काव्यं कुर्वन्तु मानवाः ।
तस्मान्निश्चलभावेन, पूजनीया सरस्वती ॥

*　　*　　*

सरस्वती ! नमस्तुभ्यं वरदेकामरूपिणी ।
विद्यारम्भं करिष्यामि, सिद्धिभर्वतुमेसदा ॥

'सपर्या' 223/10 रस्तोगी टोला
राजा बाजार, लखनऊ -226003

❑

सीताहरण रास

☐ डा गगाराम गर्ग

अद्यावधि अचर्चित जैन प्रवन्धकाव्य सीताहरण रास की रचना वैसाख सुदि 2 सवत् 1732 जयसागर कवि ने सूरत नगर मे की थी । इस रचना के प्रेरक हूवड वश मे उत्पन्न सेठ रामा सतोषी एव उनकी पत्नी रमा दे के पुत्र श्यामदास थे । जयसागर के गुरु आचार्य महीचन्द्र थे ।

वागड़ी राजस्थानी की इस मौलिक और विशाल-रचना कथावस्तु का आधार कवि ने महापुराण स्वीकार किया है । महापुराण अपभ्रश के प्रमुख कवि पुष्पदन्त की रचना है । जयसागर कृत सीताहरण रासे मे कुल छह अध्याय हैं । प्रथम पाच अध्यायो के नाम वर्णित कथा के अनुसार इस प्रकार हैं- (1) रावण सीता उत्पत्ति वर्णन (2) याग निवारण श्री रामचन्द्र चाप चढ़ावन (3) राम लक्ष्मण सीता बनवास, जटाली पक्षी प्रतिबोधन वर्णन (4) रामचन्द्र वनिता हरण, सुग्रीव हनुमान मिलन, सीता सुधि प्राप्ति (5) राम-रावण युद्ध, विशल्या घाव वर्णन । अन्तिम अध्याय मे लव-कुश के जन्म का सकेत देते हुए वैष्णव राम कथा परम्परा से भिन्न सीता की अग्नि परीक्षा का वर्णन किया गया है । पुरवधुओं द्वारा रावण के नियन्त्रण मे रही सीता के चरित्र पर आक्षेप किये जाने का प्रतिक्रिया मे यह अग्निपरीक्षा हुई है । गोस्वामी तुलसीदास के समान हिन्दी जैन काव्य परम्परा मे भी लव-कुश के साथ राम का युद्ध होने का कोई वर्णन नही किया गया है ।

महाकाव्य के सभी लक्षणो से परीपूर्ण सीताहरण रास रीतिकालीन राजस्थानी काव्य का महत्वपूर्ण प्रवन्ध ग्रन्थ है । नगर, युद्ध, राजवैभव के वर्णन के अतिरिक्त प्रकृति-चित्रण भी इसमे मनोरम हुआ है । इस ग्रन्थ मे श्रृगार और वीर रस की अभिव्यक्ति अधिक होते हुए भी अन्य रस भी न्यूनाधिक मात्रा मे उपलब्ध हैं ।

सयोग श्रृगारान्तर्गत नख शिख वर्णन मे कवि ने नायिका के जघा, कटि, नाभि, उदर, पयोधर, चिबुक, अधर, नासिका, भ्रू, कान आदि अगो को परम्परागत सौन्दर्य दृष्टि से ही परखा है । नायिका के अगो को दीप्तिमान बनाने मे विविध आभूषणो का भी योगदान रहा है—

जघा कदली थम्भ तो, कटि मेखला कटि तटि सोहतो ।
नाभि ए नर मोहिया, गम्भीरे दीसे तेह तौ ।
उदर तेहनो पातलो, त्रिवली भग छे देह तौ ।
रोमराजि अनि सूक्ष्म तो, दीसे नीले राग तौ ।

हृदय सरोवरे जावा तो, कांमे कीधो मांग तो (9)
पीनस पयोधर तेहनां, कमल कली सम दोयतो
उन्नत नेवंली उपनातो, कंचु कसती जोय तो (10)
हार हया पेरलेहेको तो, मुक्ताफल नी माल तो ।
चिबुके बिन्दु सोहामणुं तौ, अधर जांणे परवालतो । (11)
नाके मोती मनोहर तो, मोर ने रुपे मांन तो।
दंत दाड़िम कली रातड़ातो, सघला दीसै समान तौ 1(12)
नासिका सरल सोहामणी तो, मृग लोचनी ते बाल तो ।
भ्रू भंगे घणू सोभती, कांने झबूके झालतौ । (13)

संयोगकाल की स्थिति में नायिका- नायक के प्रेम में उत्तरोत्तरवृद्धि करने वाले हिंडोला और सरोवर बिहार के मनोहारी चित्र भी जयसागर ने प्रस्तुत किए हैं । पशु -पक्षियों की क्रीड़ा से युक्त तट वाली, भ्रमर -स्वरों से गुंजित सरोवर में सीता और राम का स्नान मुग्धकारी है -

सरोवर के कमल प्रगट थया रे, कांई भ्रमर करै गुंजार रै,
पशु, पक्षी सुख पांमया रे, कांई वेलै बहु नदी तणे तीर रै,
सरोवरे झीलै सीताराम जी रै, कांई साथे ते लक्ष्मण वीर रै ।

प्रणय रस से सिक्त मुग्धा नायिका सीता का मन लज्जा, व्यग्रता, चपलता आदि भावों से सम्पृक्त है । विवाह वेदी पर हथलेवा होते ही चितवनों का निरन्तर मिलना नायक -नायिका के पारस्परिक अनुराग को छिपा नहीं रहने देता -

हत्थो हाथ दोय भला, नयन ते नयन विसाल
वाजित्र वाजै रै अति घणां, होय छै रंग रसाल ।

सीताहरण के पश्चात् श्रृगाल, मृग, संवर, शूकर आदि पशुओं, फल-फूलो से परिपूर्ण वृक्षों व उन पर ऊंची चढ़ी हुई वल्लरियों से सीता गमन का मार्ग पूछना विरही राम की अतिशय व्यग्रता का परिचायक है । गिरि कन्दरा एवं वनों के मध्य "सीता" -"सीता" चीखते रहना उनकी मर्मान्तक पीड़ा का संकेत देता है ।

सीता सीता कहे राम, वन मांहे सगला फरे
गिरि कन्दर जू ए तेह, जांनकी जांनकी उच्चरे । (12)
पूछी मृग-ने-वात, संवर सूकर नेवली,
दीठी चमरी गाय, तेनै पूछे मन रली । (13)
पक्षी पसु ने सियाल, तेनैं पूछे रघुपती ।
कहीं दीठी मुझ नार, सीता नामे ते सती । (14)
वृक्ष ने पूछे तेह, फल फूले भर्या देखिनें,
पूछे सगली वेल, चढ़े ऊंची एम लेखिनें । (15)
पर्वत ऊपर जाय, वृक्ष ऊंचा देखी घणां ।
कहे तेहने वली राम तमे दीठो छो गोरीगणा । (16)

धोखे से अपहृत की गई सीता स्वर्णमृग की घटना पर पश्चाताप करती हुई हा हा कार कर तड़पती है । अपनी रक्षा के लिए राम लक्ष्मण के अतिरिक्त अपने पिता और भाई भामडल को याद करना वड़ा मनोवैज्ञानिक है ।

हा हा किहा गयो राम, मेल्हू आपणू ठाम
कचन मृग मसेवा ही, लीधी मुझ ने साही ।
हा हा कोण ए पापी, मुझ ने फोक सतापी ।
वहि लोधा जेन्तू राम, इहा नहीं बीजा नू काम ।
लक्ष्मण देवर ने कह ज्यो, रुड़ी जार ने सीक्षा देज्यो ।
वेगो आवो का नही नाथ, हू पड़ी सत्रु नैं हाथ ।
कोई जाय जनक ने कह ज्यो, सीता तणी सुद्ध लेज्यो ।
भामडल आवजे भाइ, वहिन ने मूकावो धाइ ।
हा राम विना केम रहिये, ए दुप केने कहिए ।

सीता हरण रास का दूसरा प्रधान रस "वीर" है । सीताहरण रास का नायक राम और उसके साथी लक्ष्मण, हनुमान, अगद तो दुर्घर्ष योद्धा है ही, किन्तु प्रतिपक्षी रावण, कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत, मेधवाहन भी कम वीर नही हैं ।

वैष्णव रामकाव्य परम्परा के समान रावण को जय सागर के द्वारा वड़े अत्याचारी के रुप मे चित्रित नहीं किया गया है । जयसागर के रावण की विशिष्ट बुराई सीता को भोगने की तीव्रतम इच्छा है, किन्तु वह भी उनकी अनुमति मिलने पर ही । पक्ष तथा प्रतिपक्ष का एक दूसरे के प्रति दुर्वचनो का आरोप किए विना मर्यादित और सघर्षपूर्ण युद्ध सीता हरण रास की अपनी विशेपता है । समूह युद्ध के अतिरिक्त "अगद-इन्द्रजीत" "राम-रावण" तथा "लक्ष्मण-रावण" के द्वन्द्व अधिक आकर्पक वने हैं । युद्धभूमि टूटे हुए विमानो एव छत्रो से अटी पड़ी है । खड़ग से विदीर्ण योद्धा यत्र-तत्र कराह रहे है । योद्धाओं के तन से टूट कर गिरे हुए आभूपण भूमण्डल पर पतित तारागण जैसे प्रतीत होते हैं-

खग विदारे सूर सघारे, हाके प्राण हरत ।
आता राग ले जेम गगन थकी, तेम सुभट विमान पडत ।
छत्र पड़े आकाश थी त्रुटि, पड़्या चद ।
मणिमय अभूपण पड़िया भूये, जाणे तारा चद । (4)

योद्धाओं के धनुप टकार से पर्वत फट गये, पृथ्वी मे कई जगह दरारे पड़ गई । भयभीत शेप नाग जागकर पाताल से पृथ्वीतल पर आ गया । वादल की सी गर्जना करते हुए योद्धाओं द्वारा छोड़े गए वाणो ने वर्पा का दृश्य उपस्थित कर दिया । छत्तीसो प्रकार के आयुधो से युक्त योद्धा एक दूसरे का कवच काटने लगे, जिससे यत्र-तत्र अग्नि -स्फूलिग प्रस्फुटित होने लगी, भीपण युद्ध का यह प्रलयकारी दृश्य मानस पटल पर एक भयकर चित्र अकित कर देता है ।

युद्ध मे सलग्न योद्धाओं की पूर्व तैयारी हथियारो से सुसज्जित होना, वाजे और ढोलो के तुमुल निनाद केसाय चतुरगिणी सेनाओं के रूप मे प्रयाण करना वीरता की चेष्टाओं और उत्साह

को प्रेरित करते हैं । "सीता हरण रास" में "असि" "छुरी" "कटार" "करवाल" "हल" "मूसल" "तोमर" "भाला" आदि हथियारों से सुसज्जित जुझारु योद्धा रोमांचित होकर हुंकार रहे है -

हय गय रथ पाला बहुमन, बाजे ढोल निसांण ।
धज लटके तिहां अति धणी, फरे रामनी आंण ।।
आंण फरी श्री राम नी, कटक मल्यूं अपार ।
कंप्या कायर नर सहू, रोमांच्या झूझार । ।
असी छुरी भाला घणां, कटारी करवाल ।
कुंभ भालड़ी झलहले, दीसै बहु भिंडमाल ।
हल मूसल दीसै घणां, तोमर नें तरवार ।
नैजा ध्वज बहु फरहरे, अंबर बाया तार ।
अंगाटोप धरे घणां, कवच कडिबंध ।
हाथे भाला फेरबे, सुभट करै हुंकार ।

करुण रस का मर्मस्पर्शी उदाहरण "चन्द्रनखा" का विलाप है । बनवास की अवधि में लक्ष्मण द्वारा अनायास ही चन्द्रनखा (वैष्णव रामायण में शूर्पणखा) के पुत्र शम्बूक का वध हो गया । रुधिर से सने सिरविहीन धड़ को देखकर चन्द्रनखा तड़प उठी तथा पुत्र वियोग में सिर धुन-धुन कर चीखने लगी -

मस्तक विन सुत देखयौ रे, कांई रुधिर नो चाल्यो प्रवाह ।
हा सुत कोणे मुझ मारूयो रे, विण कारण दीधो वलिदाह ।
यूं मस्तक कूटै कामिनी रै, कांई आक्रांद करै ते अपार ।
पुत्र शोके धरणी पड़े रे, एक लड़ी ते वना मझार ।

मृत्यु की स्थिति में शत्रु पक्ष के प्रति भी सहानुभूति अस्वाभाविक नहीं होती, फिर जयसागर का रावण तो दुर्धर योद्धा, चक्रवर्ती तथा रूप व वल दोनों का धनी है, सीता के प्रति कामासक्ति के अलावा उसमें जन विरोध का दोष अधिक उल्लिखित नहीं, इसी कारण उसकी मृत्यु पर राम की सेना में भी हाहा कार मच गया । सुग्रीव आदि वानर कांप उठे । राम भी एक क्षण के लिए "मैं मारूयो चक्रेश्वरी" कहते हुए सिहर उठे -

विकसित नयन दोये रह्या, दीसै सगला दंत ।
मुकुट कुंडल करे झलहलै, हरि जू ए करिपंत ।
हा हा सुभट शिरोमणि, लंका केरो भूप !
मैं मारूयो चक्रेश्वरी, दीसै अनोपम रुप ।
सुग्रीव आदेस हु मंल्यां, विद्याधर नां पाय ।
देसी रावण अति घणूं, थर थर कंपै काय ।
रावण वलवंतो सहु, भूझयों लक्ष्मण साथ ।
[illegible] ।
हाहाकार सहु को करै, [illegible] ।

सीता की वालकेलि के प्रसग मे लिखित तीन-चार छद वात्सल्य रस के अनूठे उदाहरण है । विवाह के अवसर पर प्रौढ़ महिलाओं द्वारा दूल्हा दुल्हन के रूप को देखने की आतुरता "वात्सल्य" की अनुपम झाकी कही जा सकती है ।

राम और सीता की वर-वधु की जोड़ी को सीता की मा और उसकी सहेलिया हर्पित होकर बार-बार देखती रही । अन्य पुरनारिया इस युगल की रूपमाधुरी का पान शीघ्र ही कर लेने की भावना से पुकार कर अन्य स्त्रियो को बुलाने लगी, विभ्रमपूर्वक आती हुई उन नारियो म किसी के नूपुर खो गये, तथा किसी के कान के झाले, कोई स्त्री जल्दी मे गिर पड़ी तो कोई लड़खड़ा गई, "हर्प" "स्वर भग" "विभ्रम" आदि सचारी भावो से मिश्रित वत्सलता का एक अनुठा चित्र है -

वाजित्र वाजे अति घणा, चामर छत्र ढलत ।
राम सीता दोय जोड़ली, जोइ जोइ हरपत (15)
कोई पडै कोई लथपडै, कोई वचे चपाय ।
सोर करै कोई कामिनी, जोउ सीता पति राय । (16)
नेउर नीकल पड़े, पड़े कर्ण नी झाल ।
चमर त्रूटे गोफणी, न करै तेह समाल । (17)

चमत्कार प्रिय महाकवि केशवदास द्वारा राम के धनुप - भग का प्रसग "भय" की अपेक्षा चमत्कार का सर्जक अधिक है किन्तु "सीता हरण रास" के यह प्रसग भावक के मानस पटल पर "भय" का चित्र ही अकित करता है । राम द्वारा धनुप को टकारने मात्र से वादल कड़कड़ाने लगे, आकाश गर्जने लगा तथा पृथ्वी कम्पायमान हो गई । वृक्षो की शाखाये टूट गई और सरोवर उफन पड़े । टकार के श्रवणमात्र से भयभीत घोड़े हिनहिनाने लगे, हाथी साकलो को तोड़कर भागने लगे, सोता हुआ शेप नाग तक जाग पड़ा -

कड़कड़ बाजे अवर गाजे, गाजै तरवर डाल ।
हस्ती छूटे साकल थकी हो, फूटे सरोवर पाल । ।
हणहण हय बोलै, अवनि डोलै, सुभट करै हुकार ।
थर थर कापै जानकी हो, जपै जिन जिन सार । ।
धनुप टकार साभली हो, सूतो जाग्यो शेप ।
कुसुम वृष्टि करै देवता, हे रामचद उपरि विशेप । ।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि "सीता हरण रास" प्रवन्ध काव्य की अनूठी कथा भूमि मे "श्रृगार" "करूणा" "वात्सल्य" "भयानक" और "वीर" पाचो रसो की स्रोतस्विनिया प्रवाहित रही हैं । अद्यावधि वेष्टन मे वँदे हुए इस अचर्चित काव्य को राजस्थानी साहित्य के इतिहास म उचित स्थान मिलना अपेक्षित हैं ।

110 ए, रणजीत नगर,
भरतपुर -321 001

□

अद्भुत वास्तुकला का अद्भुत तीर्थ-श्रीमहावीरजी

☐ कमल किशोर जैन
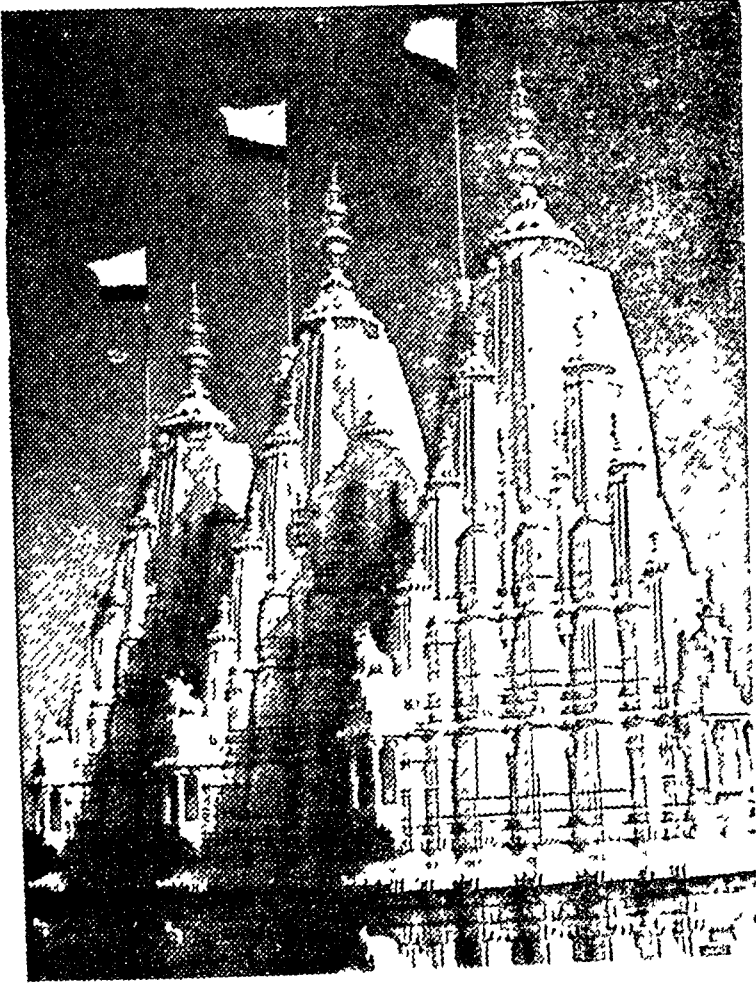
श्री महावीरजी मंदिर की भव्य गुम्बजें व कलश

राजस्थान के पूर्वी अंचल में गम्भीर नदी के तट पर जन जन की श्रद्धा का एक ऐसा तीर्थ स्थल है जहाँ भावनात्मक एकता और जातीय समभाव के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। स्थापत्य कला के इस मनोहारी केन्द्र -श्रीमहावीर जी का पूरा वातावरण ही कलापूर्ण है। लगभग 400 वर्ष प्राचीन इस तीर्थ क्षेत्र पर मुस्लिम और हिन्दू दोनों की मिश्रित स्थापत्य कला के आधार पर जो भव्य जैन मंदिर निर्मित हुआ था, उसी में उस चर्मकार की भूमि से प्राप्त भगवान महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठित है, जिसका जन्म ढाई हजार से भी अधिक पूर्व बिहार प्रदेश के वैशाली नगर में हुआ था और जिसने सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्तों से जनकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया था।

लाल और सफेद पाषाण से बने दिगम्बर जैन तीर्थ श्री महावीर जी के विशाल मंदिर की शोभा अद्वितीय है। चतुष्कोण आकार के इस मंदिर की वास्तुकला अद्भुत है। इसके
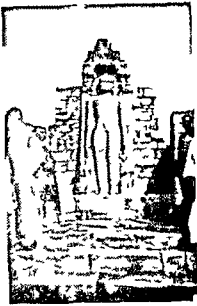
नीलकंठ के तीर्थकर

□ महेन्द्रकुमार पाटनी

नीलकठ (जिला अलवर, राजस्थान) मे सम्भवत सबसे प्राचीन पुरातत्व की दृष्टि से दिगम्बर जैन तीर्थंकर प्रतिमा है - परन्तु जनसाधारण को इस मूर्ति के बारे मे कोई जानकारी नही है। रास्ता विकट होने से कोई भी वहा जाने की हिम्मत भी नही करता है। आसपास के लोग भी नीलकठ को महादेव क मन्दिर के कारण ही जानते है, दिगम्बर जैन प्रतिमाओं व अन्य कला कृतियो के बारे मे उन्हे कोई जानकारी नही है। दिगम्बर जैन धर्मावलम्वियो मे भी इस स्थान व मूर्ति की जानकारी नही होने का कारण न तो इसकी प्रसिद्धि हो पाई है और न ही इस मूर्ति के बारे मे कही भी कोई भी समाचार प्रकाशित हुए है।

जयपुर से अलवर राष्ट्रीय राजमार्ग पर आमेर-मनोहरपुर-शाहपुरा विराटनगर-थानागाजी होते हुए सरिस्का 110 किलोमीटर है यही से नीलकठ जाने का जीपो का रास्ता है। सरिस्का मे बाघो का राष्ट्रीय अभयारण्य है। सरिस्का मे अन्दर जाने के लिए वन विभाग के विश्रामघर से अनुमति लेनी पड़ती है। जीप की 100/ रु तथा प्रति व्यक्ति 5/- रु का टिकट है। पर्यटक स्थल के लिए यह टिकट काफी अधिक है। मालूम हुआ है कि पहले यह राशि बहुत कम थी परन्तु अक्टूबर से राशि बढ़ा दीगई है। सर्दी मे 4 बजे तक तथा गर्मियो मे 5 बजे तक अभयारण्य मे जाने की इजाजत है तथा सूर्यास्त से पूर्व बाहर निकलना आवश्यक है। जयपुर से सरिस्का तक बहुत अच्छी सड़क है। रास्ता - सरिस्का मे अन्दर 10 किलोमीटर पर काली घाटी है यहा तक सिगल डामर रोड़ है। नैसर्गिक दृश्यावली है। जगह जगह नीलगाय, जगली सुअर व हरिण मिलते है। झुड के झुड जगली जानवर इधर से उधर घुमते हुए मिलते हैं। काली घाटी से ही विकट रास्ता शुरु हो जाता है। एक जीप मुश्किल से चले ऐसा सकड़ा रास्ता है। रास्ते मे पत्थर ही पत्थर पड़े है कही पर चढ़ाई है तो कही पर उतराई है, कहीं पर सूखे नालो मे से रास्ता है। जीप के अलावा तो कोई अन्य वाहन जा ही नही सकते। जीप चलाना भी बड़े ही जीवट का कार्य है। कालीघाटी से नीलकठ 24 किलोमीटर है। यदि इस रास्ते मे जीप मे कुछ खराबी हो जाये तो फिर भगवान ही मालिक है। शहरी सभ्यता के कही दर्शन ही नही होते हैं, बिजली व शहरी सुविधाओं के बारे मे तो सोचा ही नही जा सकता है। कालीघाटी से कुछ दूर चढ़ने पर ही विशाल दरवाजा भी मिलता है। नीलकठ के रास्ते मे काखवाड़ा का विशाल किला है जिसके पास ही अच्छा सा

तालाव है जो पानी से लबालब भरा रहता है । वहां से कान्यास ग्राम आता है फिर मांदलवास ग्राम है - राजोरगढ़ का किला आता है ।

अन्त में नीलकंठ क्षेत्र आता है । सरिस्का से नीलकंठ के रास्ते में कहीं भी खेत इत्यादि नहीं हैं । नीलकंठ पहुंचते ही भारतीय पुरातत्व विभाग के वोर्ड व संरक्षित राष्ट्रीय स्मारक के बोर्ड लगे हुए नजर आते हैं तथा देवरी नं. 1 व देवरी नं. 2 के बोर्ड भी दिखाई देते हैं । यहीं पर लिखा है कि पुरातत्व अवशेषों के फोटो खेंचना मना है । मंदिर में विराजमान व इधर उधर बिखरी मूर्तियों व पुरातत्व सामग्री को छेड़ना या फोटों लेना दंडनीय है । देवरी नं. । पर चढ़ते ही उसके सामने ही एक फर्लांग पर दूर से ही खड्‌गासन दिगम्बर जैन विम्व के दर्शन होते हैं तथा आसपास के क्षेत्र में भग्न मंदिरों के अवशेष नजर आते हैं तथा करीव आधा किलोमीटर पर विशाल नीलकंठ महादेव का मंदिर व उसकी ध्वजा दिखाई देती है ।

क्षेत्र दर्शन :- देवरी नं. 1 से कुछ दूर चलने से भी तीर्थकर मूर्ति तक पहुंचा जा सकता है तथा नीलकंठ मंदिर के सामने से भी खेतों के अन्दर से पत्थरों पर होते हुए तीर्थकर प्रतिमा तक पहुंचा जाता है । खेत से मूर्ति के पीछे की ओर से होते हुए प्रतिमा के सामने पहुंचा जाता है । प्रतिमाजी के दर्शन करते ही रास्ते की सव तकलीफें हम भूल जाते है । दिगम्वर जिन प्रतिमा के दर्शन करते ही यात्री को सुखद रोमांच होता है, वह अतीत में खो जाता है । तथा उस कल्पना में खो जाता है जब इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई होगी तथा इस स्थान पर अनगिनत श्रावक रहते होंगे तथा यह समृद्ध नगर रहा होगा । भगवान की प्रतिमा पर कोई चिह्न नहीं है, परन्तु पुरातत्व वाले इसे आदिनाथ की प्रतिमा वताते हैं जिसे वे 1000 वर्ष पूर्व की निर्मित वताते हैं । प्रतिमाजी की ऊंचाई 18 फुट है तथा 9 सीढ़ियां चढ़कर गर्भ गृह में प्रतिमा कार्योत्सर्ग रूप में खड़ी है । ऊपर छत नहीं है । प्रतिमा के नीचे की ओर इन्द्र व इन्द्राणी की मूर्ति है जो खंडित है परन्तु इनका कला सौष्टव देखने योग्य है, उसके वाद कंधों के पास दोनों तरफ यक्ष यक्षिणी हैं उसके ऊपर दो हाथी अंकित है । एक हाथी पर मनुष्य की आधी आकृति बैठी हुई दिखाई देती है, उसके बाद देव दिखाई देते हैं, भामण्डल व छत्र भी है। मूर्ति मटमैले पाषाण की बनी है । मूर्ति का मुख इतना सुन्दर है कि इसे देखते ही रहने को जी चाहता है । इस मूर्ति के गर्भ गृह के चारों तरफ करीव तीन-तीन फुट के ऊँचे कलात्मक चवुतरे वने हैं जिनसे आभास होता है कि इस मूर्ति के चारों तरफ वेदियां थी । प्रत्येक वेदी के चारों तरफ सैकड़ों कलात्मक प्रस्तर खंड पड़े हुए हैं । प्रतिमा व इनकी देखरेख भारतीय पुरातत्व विभाग के द्वारा होती है । वहीं पर उनके कर्मचारियों की ड्यूटी भी रहती है । ऐसा वताया गया है कि यहां जैन, वैष्णव व शैवों के 360 मंदिर थे-कालान्तर में सभी खंडित हो गये तथा वस्ती उजड़ गई ।

वहां से कुछ दूर स्थित नीलकंठ महादेव के मंदिर की ओर जाने पर वांई ओर एक खंडित मंदिर है जिस पर "मूंड तोर की देवरी" लिखा है,उसी के सामने प्राचीन वावड़ी है जिसकी खुदाई भारतीय पुरातत्व विभाग के द्वारा हो रही है । उसी के सामने दांयी ओर कांटेदार तार के वाड़े में हजारों कलात्मक प्रस्तर खंड रखे हैं जिन पर नं. अंकित हैं । वास्तव में इन पर खुदी हुई कलाकृतियां देश की अमूल्य निधि है । वहां से नीलकंठ महादेव के मंदिर के प्रांगण पर चढ़ते ही वाई ओर व दायीं ओर मंदिर की दीवार के पास खुले में कलात्मक मूर्तियां व प्रस्तर खंड रखे हुए है । यहाँ भी इनकी सुरक्षा हेतु पुलिस व पुरातत्व विभाग के कर्मचारी तैनात है । मंदिर के वांई ओर जाली के जंगले के अन्दर नाले में कारों कलात्मक

दिगम्वर मूर्तिया भी अन्य वस्तुओं के साथ रखी हुई है । जिनमे श्वेत पापाण की 3 फुट की , 1 तीर्थंकर प्रतिमा, 2 फुट की श्वेत पापाण की 1 तीर्थंकर प्रतिमा, डेढ फुट की एक श्वेत पापाण की तथा सवा फुट की एक श्वेत पापाण की दि तीर्थंकर प्रतिमा है । वही पर एक काले पापाण के 2 फुट की दि तीर्थंकर प्रतिमा भी है । सभी पद्मासन प्रतिमाए हैं । मूर्तिया वहुत ही मनोज्ञ है । देखने से मन ही नही भरता है । काले पापाण की प्रतिमा मे आज भी काफी चमक है । वही पर एक पापाण का अलकृत तोरण रखा है जिस पर जिन प्रतिमा अकित है। सभी मूर्तिया यही से प्राप्त हुई है तथा और भी वहुत-सी मूर्तिया प्राप्त हो सकती हैं। नीलकठ महादेव का मदिर भी कला की दृष्टि से वेजोड़ है तथा इसका शिखर खुजरोहो के मदिर के समान ही शैली व वनावट मे हैं । मदिर की दीवारो पर विभिन्न प्रकार की वड़ी वड़ी मूर्तिया खजुराहो की तरह ही खुदी है । मदिर मे चार खम्वे काले पापाण के वहुत ही सुन्दर कुराई के है ।

नीलकठ चारो तरफ पहाड़ो से घिरा है । कला वैभव व प्राचीन ध्वस्त अवशेप चारो तरफ फैले है । प्राकृतिक सुन्दरता अद्वितीय है । वर्पाकाल मे तो यहा की शोभा ही अलग हो जाती है । थोड़ी दूर पर ही नीलकठ का किला व राम कुड है । वास्तव मे इस स्थान के प्रचार की आवश्यकता है ।

वापसी मे दूसरे रास्ते से भी जीपो से लौटा जा सकता है । नीलकठ से आधा किलोमीटर पर वापसी समय एक विशाल दरवाजा मिलता है । यह भी सरक्षित राष्ट्रीय स्मारक है। दरवाजा ठीक हालत का है । इसके पहरे पर प्राप्त सामग्री सुरक्षित रखने के लिए भारतीय पुरातत्व विभाग गोदाम का निर्माण भी करवा रहा है । ऐसी सास्कृतिक धरोहर की रक्षा करना आवश्यक है । वापिस उतरने के लिए टहला तक उतराई है । 3-4 किलोमीटर का काफी ढलान है । गाड़िया उतर ही सकती हे, चढ़ नही सकती है । इस घाटी मे यदि सड़क का निर्माण हो जावे तो जयपुर से दौसा -सैंथल मोड-खो -गोला का वास व टहला होकर वहुत ही आसान राम्ता हो जावेगा । इस समय यहा आना जाना शुरु हो जावेगा तथा स्थान को प्रसिद्धी मिलेगी ।

नीलकठ की अदिनाथ की प्रतिमा को देखकर मन ठगा सा रहता है । मन एकाग्र होकर प्रभु के ध्यान मे लीन हो जाता है तथा मूर्ति की मनोज्ञता का अवलोकन कर सभी को ऐसा लगता है मानो कि उन्होंने एक अमूल्य निधि पा ली हो । समाज को ऐसी मूर्ति के दर्शन करना चाहिए । इसका अधिक से अधिक प्रचार कर भारत सरकार को इस मूर्ति को दिगम्वर जैनो के अधिकार मे देने के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा दिगम्वर जैनो की किसी भी एक अखिल भारतीय सस्था को इसके जीर्णोद्वार व रखरखाव का प्रवन्ध अपने हाथ मे लेने के लिए प्रयत्न करना चाहिये । मेरे विचार से यह प्रतिमा व स्थान राजस्थान के दिगम्वर जैन पुरातत्व मे सवसे प्राचीन है ।

डी-127 सावित्री पथ
वापूनगर, जयपुर-302015

□

चतुर्थ खण्ड

विविध

क्र.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ
1.	अभिमानी नहीं, स्वाभिमानी बनिये	हरखचन्द्र साह	1
2.	सन्मति ने समझाया है	प्रसन्न कुमार सेठी	4
3.	पवित्र भावना	प्रभू दयाल कासलीवाल	5
4.	कृपालु महावीर	देवेन्द्र कुमार पाठक	7
5.	जैन सिद्धान्तों की प्राचीनता एवं वर्तमान में प्रासंगिकता	राजेन्द्र कुमार गोदीका	8
6.	करे वीर वाणी श्रद्धान	विहारीलाल मोदी	10
7.	लेश्या और चारित्रिक वैचित्र्य	प्रकाश चन्द टोलिया	11
8.	वर्तमान परिप्रेक्ष्य में णमोकार मंत्र	मनीष सोनी	13
9	सावधान ! आपको चौकन्ना रहना है	बुद्धिप्रकाश भास्कर	15
10.	वीर सन्देश	कोकिला जैन	17
11.	तिर्यचों द्वारा दान का प्रश्न	मनोज कुमार निर्लिप्त	18
12	धर्म ध्यान क्या और क्यों ?	नेमीचन्द जैन	19
13.	युवक एवं युवतियों को मार्गदर्शन की आवश्यकता	कैलाश चन्द शाह	21
14	जैन कला को समर्पित मारोठ घराना	प्रदीप जैन	[illegible]
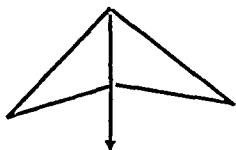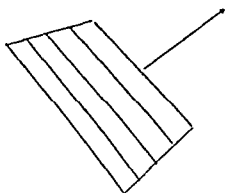
अभिमानी नहीं, स्वाभिमानी बनिये

☐ हरखचन्द साह

अपनी बुद्धि, ज्ञान कला-कौशल, रंग रूप, सामर्थ्य-शक्ति तथा किन्हीं विशेषताओं का अहंकार मनुष्य के पतन का कारण बना जाता है। जहां मनुष्य के जीवन में अहंकार का संचार हुआ, उसकी क्रियाऐं एवं चेष्टाऐं एक विकृत रूप धारण कर लेती हैं। वह नशे-वाज व्यक्ति की तरह असंतुलित एवं अव्यवस्थित कार्य अपनाने लगता है। उसमें विवेक, दूर-दर्शिता का ह्रास होता जाता है। किसी ने ठीक ही कहा है - "अभिमान वह विष वेलि है, जो जीवन की हरियाली, सौंदर्य, बुद्धि-विस्तार, विकास को रोक कर उसे शुष्क कर देती है। अभिमान एक ऐसी विष बुझी तलवार है जो अपने तथा दूसरों के लिए घातक सिद्ध होती है। अभिमान व्यक्ति को क्रूरता, शोषण, अनाचार की ओर प्रवृत करता है। फलतः व्यक्ति और समाज दोनों का अनिष्ट होता है।

वास्तव में अभिमान पर आधारित जो विश्वास है, वह पतन का द्वार खोलता है। भौतिकता से अभिभूत व्यक्ति, संकीर्णता, स्वार्थपरता एवं अनुदारता के दल दल में फंस जाते हैं। अभिमान का आधार ही मनोविकार एवं भौतिक पदार्थ हैं। भोग-विलास के सिवाय उसे कुछ दिखाई नहीं पड़ता। इसके अभिशाप से व्यक्ति दीन-दु.खी, असहाय तथा निष्प्राण होकर धरती पर भार-स्वरूप बना रहता है। सभी अनर्थों की जड़ अहंकारं-जनित विश्वास है। अशांति, युद्ध, कलह तथा राग-द्वेष यही से उत्पन्न होते हैं। नेपोलियन, मुसोलिनी एवं सिकन्दर के अभिमान युक्त विश्वास ने विश्व को आतंकित कर डाला।

विश्वास स्वयं में एक शक्ति है। शक्ति-रूपी आत्मविश्वास की जानकारी कर उसके सदुपयोग करने की कला की परख होनी चाहिये। अंतःकरण की सुपुप्त शक्तियों के जागृत होने का नाम ही आत्म विश्वास है। विश्वास की ज्योति जलाकर ही अंधकार को नष्ट किया जा सकता है। आत्म विश्वास आंतरिक शक्तियों को केन्द्रित एवं नियंत्रित करता है। जब केन्द्रित एवं संगठित शक्तियां एक दिशा की ओर चल पड़ती हैं, तो सफलता चरण चूमने लग जाती है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विश्वास की आवश्यकता है। विश्वास हमारा मार्ग-दर्शन करता है, तथा सद्पथ पर अग्रसर होने मे प्रेरणादायक है। जीवन-रहस्य को समझने हेतु आत्म विश्वास का आश्रय लेना ही पड़ेगा। जीवन निर्माण में आत्म विश्वास का प्रधान हाथ रहता है। जो व्यक्ति अपनी इस शक्ति का विकास नहीं कर पाये, उन्हें अभाव और दरिद्रता में पलते जीवन को समाप्त करना पड़ा। अविश्वासी व्यक्ति न तो किसी के सहायक हो पाते हैं और न दूसरों की आत्मीयतापूर्ण सहानुभूति ही प्राप्त कर पाते हैं। अहंकार और आत्मविश्वास का स्वरूप ऊपर से देखने में एक समान दिखाई पड़ता है, लेकिन दोनों की आत्मा भिन्न है। [illegible]

ने विश्वास को कुल की "नारी" और अहकार को "वैश्या" की सज्ञा दी है। स्वामी रामतीर्थ ने विश्वास को "राम और अहकार को "रावण" कहा है। आत्मनिष्ठा पर केन्द्रित विश्वास "राम" है। अहकार पर आधारित विश्वास "रावण"। आत्म निष्ठ विश्वास मानव को प्रगति की ओर ले जाता है। लोक मगल के लिये सर्वस्व त्याग देने की प्रवल प्रेरणा यही से मिलती है। सुकरात को विष का प्याला पी जाने का साहस आत्मवल के द्वारा ही प्राप्त हुआ। ईसा को सूली पर चढ़ना तथा सरदार भगतसिंह को हसते-हसते फासी पर चढ़ने की शक्ति आत्म-वल ने ही प्रदान की। आत्म निष्ठ विश्वासी राम तथा दधीचि को त्यागमय जीवन यापन की शक्ति वही से प्राप्त हुई।

जीवन-निर्माण के लिए आत्म निष्ठा पर आधारित आत्म विश्वास की अभिवृद्धि आवश्यक है। इसका सहज मार्ग अपने कर्तव्य एव उत्तरदायित्वो की ईमानदारी के साथ पूर्ण करने मे है। कार्य चाहे छोटे या वड़े हो, उसकी चिंता नही करनी चाहिये। छोटे-छोटे कार्यों के सम्पादन करते चलने से मनोवल वढ़ता है तथा आगे का मार्ग प्रशस्त होता है। वड़े लोगो ने अपनी जीवन काल मे प्रारभ से ही छोटे काम हाथ मे लिये थे। कोई भी कार्य छोटा और वड़ा नही होता यह तो कार्य-सम्पादन करने वालो की मनोवृत्ति पर आधारित है। जीवन का आधार आत्म विश्वास ही है, जिसने स्वय को पहचाना और अपनी शक्तियो का विकास किया, वह अवश्य ही अपने जीवन-सग्राम मे सफल हुआ। मानसिक दुर्वलता को दूर करना ही श्रेयस्कर है। हमे अपने चिंतन की शैली मे परिवर्तन करना होगा। कवीर ने दृष्टि पसार कर देखा, तो सर्वत्र दु खियो की भीड़ देखी। इसका कारण ढूढ़ने पर उनमे मानसिक दुर्वलता ही निमित्त पाई। सुखियो मे जिन की गणना की जा सकती है, वे उतने ही है, जितनो ने अपने चितन की शैली वदल ली।

धूर्त दु:खी, अवधूत दु खी हैं, रक दु खी धन रीतारे।
कहे कवीर, वही नर सुखिया, जिसने मन को जीतारे॥

अभिमानी व्यक्ति मे अपनी स्वय की व्यक्तिगत सुविधा और साधनो का असीम अभिवर्धन करने की तीव्र ललक रहती है तथा दूसरे पर अपने वर्चस्व की छाप छोड़ने की अहमन्यता। वड़प्पन की आकाक्षा वुरी नही होती, परतु जव वह सकीर्ण स्वार्थ-परता की परिधि मे घिरी रहती है, तो उसकी तृप्ति वैभव और विलास के अधिकाधिक साधन सचय करने मे ही दृष्टिगोचर होती है।

अपनी अहमन्यता की एक सीमा तक पूर्ति होती है। पर जिस प्रकार ईंधन प्राप्त होते रहने पर फैलने वाली आग की लपटे फैलती और ऊची उठती है, उसी प्रकार महत्वकाक्षाएँ भी सीमित नही है। महत्वाकाक्षाएँ अधिक मागती है और अधिक शीघ्रता चाहती हैं। यह असतोष क्रमश प्रचड होता जाता है तथा स्थिति अधीरता एव आतुरता पूर्ण होती जाती है। जितनी जल्दी, जितनी सम्पन्नता मिल सकती है, इसके लिये मन मे समुद्रमथन सा हो जाता है। यह ललक आँधी-तूफान का रूप धारण कर लेती है। फलत मर्यादाओं के औचित्य के सारे वाँध टूट जाते हैं तथा यह नीति अपनानी पड़ती है कि जैसे वने वैसे अपना वैभव एव वर्चस्व वढ़ाने मे समस्त शक्ति झोंक दी जावे।

मानव प्रकृति है कि वह स्वयं के समस्त विकारों पर विजय प्राप्त करने में सक्षम है, किंतु अभिमान का जो विकार अंतस्थल में प्रविष्ट है, उस पर विजय प्राप्त करना एक कठिन समस्या है। जो पुरुष चरित्रवान हैं, "काम वासना" को अपना सबसे बड़ा शत्रु मानकर उसके दमन का प्रयत्न करते हैं, वे भी उससे उपरत नहीं हो सकते। भक्ति सिद्धांत में भी जीवन का सबसे प्रबल शत्रु स्वयं का अहंभाव माना गया है। इस अहंभाव के रहते समस्त विकार जीव के मन को घेर लेते हैं तथा उसकी समस्त साधना निष्फल हो जाती है।

यह ध्यातव्य है कि अभिमान और स्वाभिमान में आकाश-पाताल का अंतर है। अभिमान का जन्म अपने संकीर्ण दृष्टिकोण के फलस्वरूप होता है जबकि स्वाभिमान का उदय व्यक्ति के उदात्त एवं विशाल आत्मीयतापूर्ण दृष्टिकोण से होता है। अभिमान व्यक्ति के ओछेपन की निशानी है, स्वाभिमान उसकी उच्चता और महानता की। स्वाभिमानी वे हैं जो आदर्शों के पालन में दृढ़ता प्रकट करते हैं और मानव गरिमा को, आदर्श परम्पराओं को समाज में जीवित रखने हेतु अपने सर्वस्व की बाजी लगा देते हैं। अभिमानी जहां अपना तनिक सा अपमान सहन नहीं कर सकता और चोट खाये सर्प की तरह दूसरों पर टूट पड़ता है, वहां स्वाभिमानी व्यक्तिगत लाभ-हानि का मान-अपमान का ध्यान न करके अपनी अहं को आदर्शों के साथ जोड़ कर रखता है और स्वस्थ परम्पराओं की रक्षा में ही अपनी सफलता एवं प्रशंसा मानता है। अतः हमें अभिमानी नहीं, स्वाभीमानी बनना चाहिये।

5 झ 5,
जवाहर नगर, जयपुर - 302 004

□

एकैव समर्थेयं जिन भक्तिः दुर्गतिं निवारयितुं।
पुण्यानि च पूरयितं दातुं भुक्ति श्रियं कृतिनः॥

जिन भक्ति के प्रसाद से दुर्गति का निवारण होती है; क्योंकि वह शुभोपयोग में प्रवृत्त व पाप भाव से निवृत्त रहता है। पुण्य भाव में प्रकर्षता से प्रवृत्ति होती है। स्वामी समन्तभद्र वादिराज आदि संतों ने भक्ति का तात्कालिक इष्ट फल पा लिया था। तपस्वी प्रशस्त प्रवृत्ति से शुद्धोपयोग के अनुसर्ता होकर आत्मानुभूति द्वारा मुक्ति श्री का भी वरण कर लेते हैं। अतः जिनभक्ति को अपने जीवन का ग्राह्य अंग बनाना चाहिये।

सन्मति ने समझाया है

☐ प्रसन्न कुमार सेठी

जो कुछ हुआ, होरहा, होगा, सब भावो की माया है ।
'मैरे-तेरेपन को तजदे', सन्मति ने समझाया है ॥

(१)

कालू की घरवाली कुलटा, शिव की सासू खोटी है ।
नुक्ताचीनी करती फिरती, यह कुवड़ी, वह छोटी है ।
सुना एक दिन उसने ज्योही, नायन अम्मा मोटी है ।
उवल पड़ी त्योही, कहने वाली की पकड़ी चोटी है ।
अभी खीच लूगी जिह्वा, यदि मुझको बुरा वताया है ॥
मेरे-तेरेपन को तजदें, सन्मति ने समझाया है ॥

(२)

रेशम का व्यापार करे, मस्तक पर टोपी खादी है ।
नही धर्म को समझा, कीनी क्रियाकाण्ड से शादी है ।
मैं असली तू नकली, मैं सच्चा तू मिथ्यावादी है ।
कहकर, काम विगाड़ू करता अपनी ही बरवादी है ।
दोषी ने दोषो को पकड़ा, गुणियो मे गुण छाया है ॥
मेरे-तेरेपन को तजदें, सन्मति ने समझाया है ॥

(३)

अन्दर सर्प विषैला काला, बाहर से नरमावे जी ।
राजनीति की चादर ओढ़े, बातो मे भरमावे जी ।
पूँजीपतियो का पिछलग्गू, दीनो पर गरमावे जी ।
ऊँचे-नीचे दाँवपेच से, नही तनिक शरमावे जी ।
कलियुग मे लोभी मन्त्री ने टेढ़ा नाच नचाया है ॥
मेरे-तेरेपन को तजदें, सन्मति ने समझाया है ॥

(४)

भूखा मरना भला, कर्ज ले जीने के अपमान से ।
है चरित्र एक मुट्ठी उत्तम, लाखो मन ज्ञान से ।
मत खेलो तुम खेल शिकारी, पशु पक्षी की जान से ।
जीवन सफल बनाले, प्यारे ! शुभ करुणा के दान से ।
पुण्य उदय के फलस्वरूप ही मिली मानवी काया है ॥
मेरे-तेरेपन को तजदें, सन्मति ने समझाया है ॥

☐

पवित्र भावना

□ वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल

जिसने आत्म स्वरूप जानकर आत्म दृष्टि को प्राप्त किया ।
आत्म द्रव्य की महिमा जानी निज गुण वैभव जान लिया ॥१॥
जिसने निज अज्ञान हटा कर पूर्ण जगत को जान लिया ।
जिसने पूर्ण प्रकट कर निज गुण आत्मस्थित सुख-प्राप्त किया ॥२॥
इन्द्रिय विषयों को जीता अरू तन मन वाणी जीत लिया ।
सत्य अहिंसामय बनकर जग को भी सत्पथ दिखा दिया ॥३॥
जिसने जीवों पर करूणा कर सप्त तत्व का ज्ञान दिया ।
निज मिथ्यात हटाने से सद्ज्ञान प्रकट हो बता दिया ॥४॥
उस दिव्यात्मा को आदीश्वर, महावीर जगदीश कहो ।
गुण उसके मैं सम्यक जानूं चित्त भक्ति में लीन रहो ॥५॥
वीतराग बन धर्म निभालू नहीं किसी से द्वेष करूं ।
ईर्ष्या भाव नहीं हो पर से घृणा किसी से नहीं करू ॥६॥
सत्पथ में जो बाधा आवे भय मैं किंचित नहीं करूं ।
कष्टों से मैं ना घबराऊं तन की चिन्ता नहीं करूं ॥७॥
क्षमा धर्मयुत रहूँ सदा मैं पर को दोषी नहीं गिनूं ।
ज्ञान वृद्धि ऐश्वर्य वृद्धि का अभिमानी मैं नहीं बनूं ॥८॥
उत्तम कुल तन सुन्दर पाकर कभी मान के भाव न हो ।
मन को मार्दव गुण से भर दूं सरल भाव ही मेरे हो ॥९॥
भाव लोभ के कभी न उपजे, वस्तु स्थिति पहचान करूं ।
सत्य ग्रहण कर मन वचतन से पावन बन मैं रहा करूं ॥१०॥
इच्छाओं को नहीं बढाऊं परिग्रह संयम में पालूं ।
मर्यादाओं को ना तोडूं मेरे मन को समझालू ॥११॥
निज अरू जग अज्ञान हटाने पूरूपार्थी मैं रहूँ सदा ।
सत्य तत्व घर घर पहुंचाऊं मैं भी ज्ञानी रहूं सदा ॥१२॥

सब जीवो मे प्राण ऐषणा चाहे वे एकेन्द्रिय हो ।
निज हिसा अरु पर हिंसा तज अभय दान युत चित्त रहो ॥१३॥
धर्म साधते हित शरीर है शरीर आहारमयी ।
अत पात्र को भोजन देकर भाव सदा हो दयामयी ॥१४॥
रोगोत्पत्ति दुख कारण है अगहीनता दुख महा ।
अत चिकित्सा के साधन अरु अग दान है दान महा ॥१५॥
करुँ यत्न मैं सत्यनिष्ठ वन कभी दोष युत नही वनूँ ।
लक्ष्मी आवे या जावे मैं न्याय प्रिय ही सदा रहूँ ॥१६॥
शासन कर्ता पक्ष रहित हो धर्म निष्ठ हो प्रजा सभी ।
चौरी मारी और व्याधिया फैले जग मे नही कभी ॥१७॥
वर्षा समय समय पर होवे अनावृष्टि अति वृष्टि नही ।
दुखदायी दुर्भिक्ष फैल कर दुखी प्रजा को करे नही ॥१८॥
धरा रहित वृक्षो से युत हो फल फूलो से पूर्ण रहे ।
खेतो अरु खालिहानो का सव कृषक वर्ग सतुष्ट रहे ॥१९॥
नदियाँ प्रतिक्षण कलकल ध्वनि से मधुर नाद को किया करे ।
पशु पक्षी भी आल्हादित हो उनका पानी पिया करे ॥२०॥
सत्य स्वरूप धर्म को समझे धर्म नाम पर क्लेश न हो ।
दुख परस्पर समझे सव ही सव काटे जीवन सुखमय हो ॥२१॥
इस विधि स्वर्ग धरा पर उतरे वसुन्धरा सत्यार्थ वने ।
जीवो अरु जीने दो यह सिद्धान्त वीर का सव माने ॥२२॥
एकान्तवाद को त्यागे सव ही अनेकान्त स्वीकार करे ।
राजनीति अरु धर्म नीति का सत्य रूप स्वीकार करे ॥२३॥
पवित्र भावना है यह 'प्रभु' की सभी सत्य स्वीकार करे ।
जीवन शका रहित सभी का हो यह चिन्तन किया करे ।२४॥

❑

कृपालु महावीर

☐ देवेन्द्र कुमार पाठक 'अचल'

जय करुणाकर कारुणीक कुल कीरति मण्डित ।
जयति प्रबल प्रज्ञेश अप्रतिभ पौरुष पण्डित ॥
जयति अजन्मा, आत्मेय, अनलिप्त, अकामी ।
जयति जयति जय धीर, वीर, गुरु, गुरुता स्वामी ॥१॥
जयति जयति निर्भेद जयति समता विस्तारक ।
जयति अहिंसा मूर्त रूप जन-जन हितकारक ।
जल थल में अम्वर में तू ही भासमान है ।
रवि शशि तारा गण में तू ही दीप्तिमान है ॥२॥
पग-पग पर प्रतिध्वनित आपकी पावन वाणी ।
करती मार्ग प्रशस्त वनी शाश्वत कल्याणी ॥
एक वार त्रिशिला कुमार फिर भू पर आकर ।
वनो त्रिलोकी नाथ सहज पद-अङ्क लगाकर ॥३॥
करो कृपा महावीर चरण तज कहीं न जावें ।
कृपा करो मन्दिर अपने अन्दर ही पावें ॥
दो सवको सद्वुद्धि विश्व से कटुता भागे ।
होवे अस्त दुराव परस्पर समता जागे ॥४॥

दोहा

तुम पावन परमात्मा, मैं कलियुग गुण तीन ।
त्रिशला नंदन दीजिये, निज पद भक्ति नवीन ॥

दाना (सागर) म.प्र.

☐

जैन सिद्धान्तों की प्राचीनता एवं वर्तमान में प्रासंगिकता

☐ राजेन्द्र कुमार गोदीका

प्राय जैन धर्म का आरम्भ लोग भगवान महावीर से मान लेते हैं विद्यालयो की पाठ्यपुस्तको मे भी इसी बात पर जोर दिया जाता है और अति प्राचीन काल मे हुए ऋषभदेव आदि तीर्थंकरो की चर्चा नही की जाती जैन शास्त्रो मे यह धर्म भगवान ऋषभदेव द्वारा कर्म भूमि के आरम्भ मे चलाया गया बताया गया है उन आदि ब्रह्मा ऋषभदेव ने ही कर्मभूमि के आरम्भ मे मानव को असि (युद्ध विद्या), मसि (लिखना, पढ़ना), कृषि, वाणिज्य आदि द्वारा जीवन यापन करना सिखाया था

ऋषभदेव की आयु 83 लाख पूर्व वर्षों की थी वैराग्य का कारण पाकर उन्होंने राज-पाट छोड़ दिया और पूर्ण दिगम्बर हो गये, उन्होंने किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखा उनके द्वारा ग्रहीत चर्या आत्मा के रागादि विभाव भावो को जीतने वाली, भावात्मक रूप से त्याग को जीवन के आवश्यक अग के रूप मे स्वीकार करने वाली, त्यागी मुनियो को भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का मार्ग दिखाने वाली सिद्ध हुई

ऋषभदेव ने अपना राज्य अपने पुत्रो म बाँट दिया था उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती सम्राट थे उनके नाम से ही हमारे देश का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ श्रीमद् भागवत के स्कन्ध 2 अध्याय 7 पृष्ठ 76 मे कहा गया है कि भगवान ऋषभदेव "परमहस दिगम्बर धर्म के प्रतिपादक हैं' श्लोक 8-11 मे इन्हे विष्णु का आठवाँ अवतार मानते हुए इनकी शिक्षा को मोक्ष का मार्ग माना है वहाँ कहा गया है कि सूक्ष्म भी परिग्रह सामग्री, यथा पात्र, कमण्डलु और लगोटी आदि को भी छोड़कर विचरण करने तथा आत्मान्वेषण करने पर मोक्ष प्राप्त होता है ऐसा व्यक्ति लाभालाभ मे समचित्त होकर निर्ममत्व भाव रखने वाला, शुक्ल ध्यान परायण, अध्यात्मनिष्ठ, शुभाशुभ कर्मों के निर्मूलन करने मे तत्पर रहकर परमात्मा को प्राप्त होता हैं अन्य भी अनेक वैदिक पुराणो मे ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती का इसी प्रकार उल्लेख हैं

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म के त्याग-तप, अहिसा—अपरिग्रह के सिद्धान्त एव आत्मा की मुक्ति का मार्ग ऋषभदेव से मानना जैन शास्त्र सम्मत ही नहीं है, वरन् समस्त भारतीय परम्परा को मान्य है बड़े आश्चर्य की बात है कि सारे भारतीय शास्त्रो को एक ओर कर जैन धर्म को महावीर और पार्श्वनाथ से प्रारभ होने को ही आज की किताबो मे क्यो लिखा जाता है और छात्रो को बताया जाता है ? जब जैन शास्त्रो के कथन कि जैन धर्म के सस्थापक प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे, की पुष्टि अन्य भारतीय साहित्य से भी होती है तो फिर इसमे सन्देह को कहाँ स्थान रह जाता है कि त्याग—तप, अहिसा—अपरिग्रह, अनेकात आदि सिद्धान्त कोई 2500 वर्ष पुराने नही है वरन् अतिप्राचीन काल से मानव को सुखी जीवन का

मार्ग वताते रहे हैं. वस्तुतः इन्हें अपनाये विना आज भी मानव को शान्ति—सुख मिलने वाला नहीं है.

अस्तु, उपरोक्त तथ्य पर दृष्टि रखते हुए हमें आज की परिस्थितियों में धर्म के इन सिद्धान्तों के उपयोग/प्रयोग की विधियों पर विचार करना होगा. हमें वालक, वालिकाओं को नियमित रूप से प्रेरित करना होगा कि अन्यों के लिये किया गया त्याग, की गई सहायता उनको बड़ी शान्ति, आत्म विश्वास, दृढ़ इच्छा शक्ति देगा, तन-मन को स्वस्थ वनायेगा एवं समाज में एकता का निर्माण करेगा. बड़ों को केवल बालकों को शिक्षा ही नहीं देनी है वरन् स्वयं का आदर्श भी प्रस्तुत करना है. बचपन से ही बालक में प्रातः देव दर्शन, समय पर दिन में ही भोजन, नशे के पदार्थों का पूर्ण त्याग, ईमानदारी से अपनी आजीविका अर्जित करने की भावना का निर्माण होना आवश्यक है. जीवन में हर कदम पर त्याग-तप की, अहिसा-अपरिग्रह, सेवा, परोपकार की, भावना यदि बच्चे में कार्य करने लगेगी तो आज की आवश्यकतायें—धार्मिक सहिष्णुता, धर्म —निरपेक्षता अथवा धर्म—सापेक्षता सभी सहज ही पूरी हो जायेंगी और देश —समाज में से व्यर्थ के वैर—विरोध मिट सकेंगे.

प्रधानाचार्य;
राजकीय सीनियर उच्च माध्यमिक विद्यालय,
माणक चौक, जयुपर ।

❑

साधुवस्तु कृपावन्तो भवन्ति पुण्य चेतसः ।
अपकृतौ च सत्यांवै कुर्वन्त्युपकारकं सदा ॥१२८॥ सम्यक्त्व कौमुदी

पवित्र चित्त के धारक साधु परम दयालु होते हैं । वे अपकार करने पर भी सदा उपकार ही करते है ।

अक्खाणं रसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंम वयं ।
गुत्तीणय मणगुत्ती चउरो दुक्खेण जीयंति ॥१७९॥ सम्यक्त्व कोमुदी
इन्दियो में रसना इन्द्रिय, कर्मों में मोहनीय कर्म, व्रतो में ब्रह्मचर्यव्रत,
गप्तियों में मनोगुप्तिये चारों कठिनाई से जीते जाते हैं ।

३ कापोत लेश्या इस लेश्या वाला व्यक्ति दूसरो की बुराई करने मे आनन्द समझता है। उसको अपनी बुराई जरा भी बर्दाश्त नही होती। दूसरो को दु ख देने मे वह सुखी होता है। वह भूल जाता है कि कर्म किसी को नही छोड़ते है। हम किसी को दुखी करेगे तो उसके फल भी हमको भोगने पड़ेगे। इस लेश्या वाला व्यक्ति झूठी बड़ाई को सुनकर सन्तुष्ट होता है और यदि अपनी बड़ाई के लिये धन भी देना पड़े तो देता है। वह दूसरो के वैभव को देख नही सकता। यदि कोई उन्नति करता है तो उसे सक्लेश हो जाता है, वह दु खी हो जाता है

उपरोक्त तीनो लेश्या सक्लेश रूप हैं और ये दुर्गति की ओर ले जाती है। शेष तीन लेश्या विशुद्धि रूप होती हैं, शुभ हैं और मानव के वर्तमान और भविष्य को अच्छा बनाने वाली है।

४ पीत लेश्या इस लेश्या वाला व्यक्ति कार्य अकार्य को जानता है। जैसा कि पूर्व मे बताया गया है कि इस लेश्या वाला व्यक्ति केवल छोटी शाखा को ही काटकर सन्तुष्ट हो जावेगा। वह कृष्ण, नील, कापोत की तरह पूरे वृक्ष को नही उखाड़ता है, न वृक्ष को काटता है और न ही वृक्ष की बड़ी शाखा को काटता है। इन तीनो लेश्या वाले व्यक्तियो से पीत लेश्या वाला व्यक्ति अन्य को कम कष्ट देने की बात सोचता है। इस लेश्या वाला व्यक्ति समदर्शी होता है, उसमे दया के भाव होते हैं। मन वचन काय से मृदु स्वभावी होता है।

५ पद्म लेश्या इस लेश्या वाले व्यक्ति मे स्वभाव से त्याग की भावना होती है। वह भद्र परिणामी होता है, स्वभाव से अच्छे कार्य करता है, कष्टो को सहन करने की क्षमता होती है और उपद्रवो से डरता नही है। वह उद्यमी होता है। इस लेश्या वाले व्यक्ति को देव, शास्त्र, गुरु की पूजा मे रूचि होती है। वह राग भाव को छोड़ अपने आत्म हित मे प्रवृत्ति करता है।

६ शुक्ल लेश्या इस लेश्या वाला व्यक्ति किसी से पक्षपात नही करता, स्पष्ट कहने मे किसी से डरता नही है। उसमे भोगो की आकाक्षा नही रहती। सब परिस्थितियो मे समभाव रखता है। किसी विशेष से राग द्वेष नही रखता और न ही स्नेह रखता है। इस प्रकार का व्यक्ति आत्म स्वभाव मे रहता है और आत्म स्वभाव मे रहने वाला व्यक्ति ही मुक्ति को प्राप्त करता है। शुक्ल लेश्या के उत्कृष्ट भावो मे रहने वाला व्यक्ति अल्पकाल मे ही ज्ञानावर्णादिक अष्ट कर्मो से एव शरीरादिक नो कर्मों से छुटकारा पाकर मुक्त हो जाता है।

, 198, मुशरफो का चौक,
हल्दियो का रास्ता,
जयपुर - 3

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में णमोकार मंत्र

□ मनीष सोनी

वर्तमान युग मशीनी युग हो गया है । तीव्रता से भागती-दौड़ती मशीनों के वीच इंसान न जाने कहाँ खोता जा रहा है । आज जिसे देखे, वह ही भौतिकता की इस दौड़ में शामिल है। इसकी क्या परिणति होगी, यह दौड़ मनुष्य का क्या हश्र बना देगी, इस की आप कल्पना भी नहीं कर सकते । आज इंसानी रिश्तों और आत्मीय रिश्तो का कोई महत्त्व नहीं रह गया है। भोगवाद और भौतिकतावाद के इस काल में स्वार्थ ही रिश्तों में सवसे अहम् हो गया है । प्रकृति के नैसर्गिक नियमों की अवहेलना करते हुये, हम किस तेजी से कंकरीट के जंगल और अधर्म की दीवारें खड़ी किये चले जा रहे हैं, इसका सहज अनुमान लगाना कठिन होगा ।

हमारी सृष्टि कुछ आधारभूत नियमों पर टिकी हुई है । नमस्कार महामंत्र इन्हीं में से एक हैं । लेकिन जिस तेजी से आज हम धर्म से परे होते जा रहे है वह दुखःद ही नहीं अपितु विनाश का सूचक है । हमारी इस उपेक्षा के प्रति सृष्टि भी अव नाराजगी प्रकट करने लगी है, जिसका वर्णन आप रोज अखवारों आदि में पढ़ सकते हैं । आज युवा वर्ग में शायद ही कोई जानता हो कि धर्म की वास्तविक महत्ता क्या है । धर्म और शास्त्रों में इस वर्ग की रुचि ही नहीं है । साथ ही जव इनके माता-पिता ही धर्म के प्रति उदासीन हों तो वच्चों से क्या उम्मीद की जा सकती है ?

धर्म के प्रति गहरी आस्था होना वेहद आवश्यक है । धर्म मार्ग पर चल कर ही हम प्रगति कर पा सकते है, इसका श्रेष्ठ उदाहरण है "जापान" । द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका में जापान का जो हश्र हुआ था उससे सम्पूर्ण विश्व वाकिफ है । जापानी लोगों मे धर्म के प्रति गहरी आस्था है । वहाँ अधिकांश लोग वौद्ध धर्म के अनुयायी हैं । इन लोगों ने किसी भी परिस्थिति में अपना मनोवल नहीं खोया और भीषण संकट की उस घड़ी में भी धर्मानुसार आचरण करते रहे । यह उनका धर्मानुराग और देश के प्रति गहरा लगाव ही था जो आज वे विश्व के शीर्ष पर पहुँच गये है ।

आज के इस द्रुतगति युग में जहाँ समय की ही महत्ता है, धर्म की प्रासंगिकता कम नहीं हुई है, वल्कि वढ़ी ही है । धर्म हमारे समाज की धुरी है । आज वैर-वैमनस्य के इस युग में रुपये-पैसे और समय को लेकर अफरा-तफरी मची हुई है । ऐसे में वर्द्धमान का शांति और अहिंसा का संदेश और भी प्रासंगिक हो जाता हैं । जैन धर्म मे अहिंसा का सिद्धांत सर्वोपरि है और सम्पूर्ण विश्व ने इसे माना है । सृष्टि में व्याप्त समस्त प्राणियों को जीने का उतना ही अधिकार है जितना अन्य प्राणियों को । वर्द्धमान ने "जीने दो और जियो" के सिद्धांत को

माना है । "प्राणमयम् इदम् सर्वम्" यानि हर जगह प्राण व्याप्त है, हर प्राणी का आदर किया जाना चाहिये ।

मदिर हमारे समाज का प्रमुख हिस्सा है । प्रात काल मे मदिर जाना दैनन्दिन का एक महत्त्वपूर्ण कर्म है । आज मदिर के माने दिखावा अधिक हो गया है और दर्शन की तो विधा ही जाने कहाँ लुप्त होती जा रही है । मदिर को ऊर्जा का उद्‌गम माना गया है । मदिरो मे स्थापित मूर्तियो के कण-कण मे से एक आव सी प्रस्फुटित होती रहती है जिससे आस-पास का सारा वातावरण ऊर्जामय हो जाता है । दर्शन का हमारी ऊर्जा से स्पष्ट सवध है । प्रात काल की वेला मे मदिर मे दर्शन करने से मूर्तियो से निर्झरित होने वाली आव व्यक्ति को जीवत कर देती है । वहाँ से ऊर्जस्वित होने के पश्चात ही हम कल्याण की बात सोच सकते है ।

एक परम्परा है कि मदिर होकर आने वाले व्यक्ति के, परिवार के सभी छोटे सदस्य पाँव छूते हैं, इसके पीछे ऊर्जाग्रहण करने का भाव प्रबल है । इसी तरह अगर शिष्य अपने गुरु का आशीर्वाद चाहता है तो वह गुरु का मदिर से आने का इतजार करता है और तत्पश्चात उनके चरण छूकर ऊर्जा का अश अपने मे समेटता है ताकि कार्य सफल हो, लक्ष्य की प्राप्ति हो ।

इसी तरह नमस्कार महामत्र का भी बड़ा व्यापक प्रभाव है । अगर सही उच्चारण के साथ बोला जाये तो इसका चमत्कारिक प्रभाव पड़ता है । आचार्यो के अनुसार नमस्कार महामत्र पढ़कर पानी पिला देना भी रोगी के लिए अमृतत्ल्य कार्य करता है । इस मत्र मे नाद है, नमन है, मगल है । जिस भी किसी मत्र म ऐसा भाव हो, वह चमत्कारिक होगा ही । मगल की ऐसी कामना करने वाले इन मत्रो पर ही यह सृष्टि टिकी हुई है ।

वर्द्धमान का दर्शन, ज्ञान और चरित्र का जो सिद्धात है उसका स्पष्ट प्रभाव हमारी सस्कृति पर है । आज के इस परिवर्तनशील युग मे हमारे धर्म के प्रति दृष्टिकोण मे परिवर्तन आ रहा है । लेकिन मनुष्य चाहे कितनी ही प्रगति क्यो न करले, धर्म के मायने कभी बदलेगे नही। धर्म शाश्वत है, सशक्त है, सत्य है । नमस्कार मत्र इस शाश्वत सत्य को नमन है । आज जरूरत है कि हम नमस्कार महामत्र की गहराई को समझे । अगर हमे विपदाओं से बचना है, कल्याण की बात सोचनी है तो ऐसे मगलकारी मत्रो का सहारा लेना ही पड़ेगा । ऐसा करने पर ही सुख, शाति और समता का साम्राज्य स्थापित हो सकेगा, समस्त जगत मगलमय हो सकेगा ।

D 118, कबीर मार्ग,
बनीपार्क, जयपुर ।

□

सावधान । आपको चौकन्ना रहना है ।

☐ बुद्धिप्रकाश भास्कर

'सण्डे हो या मण्डे - नित खाओ अण्डे' यह प्रचार होता है- हमारे भारतीय दूरदर्शन से। उस राष्ट्र के दूरदर्शन से जिसे विश्व में अहिंसा का उद्‌गम माना जाता है । उद्‌गम सूख गया है, यत्र-तत्र अतीत के गौरवमयी चिन्हों के रूप में अहिंसा प्रेमी कोई सम्प्रदाय दिखाई दे जाय तो मानिये भारतीय संस्कृति का सौभाग्य । अभी तो अर्द्ध शती भी नहीं बीती - महात्मागांधी ने अहिंसा के बल से स्वराज्य दिलाया था । भारत वह पुण्य भूमि है जहां ऋषभ, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि अहिंसा के अवतार हुए । उसी पावन भूमि पर प्रचार हो रहा है- अण्डे खाने का । दुःख तो इस बात का है- ये अण्डा प्रेमी अपने आपको शाकाहारी कहते हैं, इनसे पूछो- भाई अण्डा शाकाहार में कैसे ? जो किसी गर्भाशय से निकला हो- वह तो रक्तमांस का ही कोई भाग हो सकता है- वनस्पति का नहीं । अतः अण्डे को शाकाहार कहकर वहुत वड़ा धोखा दिया जा रहा है ।

हिटलर के प्रचारमन्त्री गोयबिल्स का सिद्धान्त है कि किसी झूंठ को सौ वार वोलो तो वह भी सत्य वन जायगी । इसी सिद्धान्त को मानने वालों ने अण्डे को शाकाहार कहना प्रारम्भ कर दिया है । मांसाहार को अतीत में हमारे देश में कभी अच्छा नहीं माना गया । फिर भी मानव स्वभाव रहा है कि उसने अपने खाने के वारे में सदैव नये-नये प्रयोग कर अनेक अखाद्य वस्तुओं को अपने खाने में सम्मिलित कर लिया है । नशीले पदार्थों का सेवन करके उसे पागल वनने में भी आनन्द आता है । अतः उसकी इसी प्रवृत्ति ने उसे मांसाहारी वना दिया । मांसाहार मानव की विकृत प्रवृत्ति को इंगित करता है । उसकी इस विकृत प्रवृत्ति में अधिक से अधिक लोग सम्मिलित हों तो एक वड़े समुदाय का समर्थन उसे मिल जायेगा । हुआ भी यही, मांसाहारियों ने शाकाहारियों के खिलाफ मोर्चा वांधा और वे सफल हो गए । उन्होंने अपने प्रचार को वड़े योजना वद्ध ढंग से प्रारम्भ किया है । शाकाहारियों पर चारों ओर से आक्रमण किया गया । प्रचार के जितने माध्यम सम्प्रति प्राप्त है, उन सवका उपयोग इन लोगों ने किया । सभी भाषाओं की पत्र-पत्रिकायें, रेडियो, दूरदर्शन, सिनेमा आदि सभी प्रकार के साधन इनके मिथ्या प्रचार से भरे रहते हैं ।

एक दिन अपने वावा से पोता वोला- वावा ! क्या हमारे पूर्वज वन्दर थे ? वावा चौंके, वे वोले नहीं वेटा । पोता वोला आज ही स्कूल में पढ़ाया गया है 'डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त' । उसमे वताया गया है कि- 'मानव का पूर्वज वन्दर था- धीरे धीरे विकास हुआ और वह आज का मानव वना । मानव रूप में आने के वाद भी उसका जीवन जंगली था । वह जानवरों को मारकर खाता था ।' वावा [illegible] । [illegible]

हमारे नौनिहालो के साथ । उनके कोमल मस्तिष्क मे आदि मानव का यह विकृत रूप हमारे विद्यालयो मे पढ़ाया जा रहा है । विद्यालय मे शिक्षक जो बात कहते है वह बालक के लिए अमिट लकीर होती है-यह बाल स्वभाव है । जैन वाङ्मय मे आदि मानव का रूप सर्वथा इससे विपरीत है ।

जैन वाङ्मय मे काल के दो भाग- अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी माने गए है । इस समय अवसर्पिणी काल चल रहा है । प्रत्येक के छ भाग किये गये है । अवसर्पिणी के छ भाग- सुषमा सुषमा, सुषमा, सुषमा दुषमा, दु षमा, सुषमा-दु षमा और दु षमा दुषमा । उपसर्पिणी मे यह चक्र उल्टा घूमता है । छठा काल पहला और इसी क्रम मे पहला छठा बनता है । इस अवसर्पिणी काल का पहला काल सुषमा-सुषमा है । वही आदि मानव के हमे दर्शन होते हैं । काल का नाम ही सार्थक है- अत्यन्त सुख ही सुख ऐसा काल । भूमि भी रज, धूल, अग्नि हिम कटक आदि से रहित । मधुर गध से युक्त मिट्टी । इस काल के जीवो मे विरोधी स्वभाव नही पाया जाता था । यहा तक कि सिह और मृग एक साथ रहते थे । सिह भी दिव्यतृणो का भक्षण करते थे । सिह जैसे क्रूर प्राणी भी जिस काल मे मास भक्षण न करते हो- वहा मानव के मासाहारी होने का तो प्रश्न ही नही उठता । उस काल का मानव सरलता से सभी आवश्यकता की वस्तुये कल्पवृक्षो से पा लेता था । धीरे-धीरे इन जीव जन्तुओं के स्वभाव मे परिवर्तन आने लगा । वस्तुओं की कमी होने लगी । तीसरे काल मे बहुत समय व्यतीत हो जाने पर भगवान आदिनाथ का जन्म हुआ । भगवान जन्म से ही ज्ञानी थे । उन्होंने लोगो को असि-मसि-कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्प की शिक्षा दी । लोग खेती करना सीखे- अन्न का प्रयोग सीखे, व्यापार सीखे । भगवान ने लिपि ज्ञान और अक विद्या भी सिखाई । जैन वाङ्मय मे यह बताया है सृष्टि का क्रम ।

आदि मानव वन्दर था और आदि मानव मासाहारी था । ऐसा कहना विकृत मस्तिष्क की परिणति है । महावीर जयन्ती के इस पावन पर्व पर सभी भाई-बहिनो से निवेदन करूगा कि वे मिथ्या प्रचार से सावधान रहे । सावधान इसलिए कि ये शाकाहार के विरोधी अखाद्य सामग्री को पिछले दरवाजे से आपके रसोई घर मे पहुचाने का प्रयत्न कर रहे है । डिब्बा बन्द खाद्य पदार्थों का प्रयोग करते समय देखले उनके निर्माण मे किन तत्वो को काम मे लिया गया है । यदि ठीक सूचना डिब्बे पर न हो तो उस सामग्री को न खरीदे । रसोई घर मे ही नही, और माध्यमो से भी हमारे दैनिक जीवन मे इन वस्तुओं ने प्रवेश करके हमारे शाकाहारी होने के नियम को चुनौती दी है । क्रीम, लिपस्टिक, आफ्टर शेव लोशन, शैम्पू और सेन्ट- इन सबके द्वारा भी इनकी घुसपैठ चल रही है ।

अत शाकाहारी व्रत के पालन करने वाले भाई बहिनो आपको चौकन्ना रहना है- कही किसी माध्यम से ये दूषित वस्तुये आपके जीवन को अपवित्र न कर दे आपके व्रत को भग न कर दे और मिथ्या विचारो से आपके सम्यक्त्व को मलिन न कर दे ।

❑

वीर सन्देश

□ कोकिला जैन

आओ सभी मिल वीर के सन्देश घर घर में पहुंचायें
उस दिव्य अलौकिक ज्ञान का दर्शन सभी को हम करायें ।

जग के किसी जीव को किंचित नहीं कुछ क्लेश हो
शुभ भावना सद्भाव का व्यवहार चारों चहूँ ओर हो ।

जीओ और जीने दो सभी को भाव ये मन में रहें ।
महावीर की वाणी सुनें और सुनाते हम रहें ।

जरूरत से ज्यादा धन धान्यादिक का नहीं संचय करें
परिमाण परिग्रह का करें संतोष धन संचित करें ।

फिर साथ में जो कुछ भी हो उसमें कहीं ना राग हो
ना द्वेष हो वैमनस्य हो सौहार्द्रता का भाव हो ।

क्रोधादि विषय कषाय से प्राणी सदा सव दूर हों ।
हों शुद्ध सात्विक संयमित आनन्द से भरपूर हों ।

पंचाणुव्रत महाव्रत को पाले सुरभि जीवन में रहे
निज आत्मज्ञान लीन प्राणी, प्रेम से हिल मिल रहें ।

ज्ञायक स्वरुपी सहजानन्दी आत्मा का भान हो
पर द्रव्य से निज भिन्न है इसका सभी को ज्ञान हो ।

आया अकेला जायेगा कोई न संगी साथ में
करनी की गठरी सिर पर लादे घूमता भव भ्रमण में ।

है मार्गदर्शक वीर का संदेश मन अव जान ले
निज आत्मा का कल्याण करले स्वपर को पहचान ले ।

चौरासी लाख योनी से निज आत्मा छूट जायेगा
सम्यकदर्श की सीढ़ी चढ़ मुक्तिमहल को पायेगा ॥

2 झ 5 शास्त्री नगर, जयपुर ।

तिर्यचो द्वारा दान का प्रश्न

☐ मनोज कुमार जैन निर्लिप्त

दान श्रावक धर्म का आवश्यक अग है। तिर्यच भी श्रावक धर्म का पालन करते हुए वताये गये है प्रश्न उठता है वे धर्म के दान अग का कैसे पालन करते हैं ? इस प्रश्न को प्रस्तुत करते हुए एव उसका उत्तर देते हुए, ग्रन्यराज "धवला' का कथन है— कध तिरिक्खेसु दाणस्स सभवो । ण, तिरिक्ख सजदासजदाण सचित्तभजणे गहित पच्चक्खाण सल्लिपल्लवादि देततिरिक्खाण तदविरोधादो ।' [7/2 2, 16/12 3/4]

प्रश्न—तिर्यचो मे दान देना कैसे सभव है ? उत्तर—नही, सचित्त भजन के प्रत्याख्यान (त्याग) को ग्रहण करने वाले सयतासयत तिर्यच सल्लकी के पत्तो को तिर्यचो को दान देने वाला मान लेने मे कोई विरोध नही आता ।"

इससे स्पष्ट है कि त्याग भी दान ही है दोनो मे वस्तु पर से स्वामित्व छोड़ा जाता है और स्वय के उपयोग मे उस पदार्थ को नही लिया जाता यदि स्वय उस वस्तु का उपयोग कर ले तो न दान है तथा न त्याग है ।

लोक म भी जव हम किसी वस्तु को जीवन पर्यन्त, कुछ काल पर्यन्त, विशेप तिथियो, दिवसो, पर्वों मे ग्रहण नही करन का निर्णय लेते हे तो उस वस्तु को उस काल पर्यन्त को त्यागा हुआ कहते ही है दान दिया हुआ ही कह दिया करते है । मैंने एक सज्जन से कहा कि मै रविवार को नमक का त्याग रखता हूँ ।' तो वे (जैनेतर सज्जन) पूछ वैठे क्या आपने नमक का प्रत्येक ही रविवार को दान कर रखा है ?

त्याग रूप दान का श्रावक, श्रमण सभी पालन कर सकते ह और शास्त्रो मे उत्तमत्याग को मुक्ति के कारणभूत दस धर्मों म गिनाया गया हे अत हमे त्याग/दान की सुशिक्षा एव सम्यक् प्रेरणा अवश्य लेनी चाहिए ।

पी डब्ल्यू डी न 9
समद रोड़ अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश)

धर्म ध्यान क्या और क्यों ?

☐ नेमीचन्द जैन

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र की एकता धर्म है । अहिसा एवं क्षमादि दस लक्षण आत्मा के स्वभाव होने से धर्म कहे गये हैं । जड़, चेतन सभी पदार्थों का अपना शुद्ध स्वभाव उनका धर्म है ।

धर्म जीवन विज्ञान है । यह आनन्दपूर्वक जीने की कला है । क्रोधादि कषायें जो शरीर में नाना रोगों की कारण बनते हैं, उनसे धर्म मानव को मुक्ति दिलाता है । यह आत्मा को अन्ततोगत्वा पारदर्शी तथा ऊर्ध्व गमन के योग्य बनाकर मोक्ष तक की यात्रा में सहायक होता है ।

जो गृह त्यागी होय, सम्यक् रत्नत्रय विना ।
ध्यान योग्य नहीं सोय, गृहवासी की की कथा ।।

रत्नत्रय धर्मध्यान की आवश्यक शर्त है । सम्यग्दर्शन उसकी पहली सीढ़ी है । सम्राट भरत इसके उत्तम उदाहरण हैं ।

सम्यग्दर्शन पाइके, ज्ञान विशेष वढ़ाय ।
चारित की विधि जानि कै, लागो ध्यान उपाय ।।

ध्यान की सारी चर्चा का मुख्य पात्र मन है । ध्यानी को इसे वश में करना है-

पवन वेग हुँते प्रवल, क्षण भर में सव ठौर ।
याको वश कर निज रमे, ते मुनि सब शिरमोर ।।

जो मुनिजन रत्नत्रय धारण कर मन को कुपथ से रोक पाते है वे मुक्ति प्राप्त करते हैं-

रत्नत्रय को धार जे, शम दम यम चित्त देय ।
ध्यान करे मन रोकि कै, धन ते मुनि शिव लेय ।।

ध्यान के लिये क्षोभरहित स्थान को आचार्यों ने उचित वताया है-

जहाँ क्षोभ मन उपजें, तहाँ ध्यान नहीं होय ।
ऐसे स्थान विरुद्ध है, ध्यानी त्यागै सोय ।।

ध्यान के आनन्द लोक में मानव प्रवेश कर सके इसके लिये जीवाजीवादि पदार्थों का, सात तत्त्वों का स्वरूप समझना, ज्ञानाभ्यास करना आवश्यक है-

कोटि जन्म तप तपै ज्ञान विन कर्म झरै जे,
ज्ञानी के छिन माहि, त्रिगुप्ति तै सहज टरै ते ।

जो जीवाजीवादि पदार्थों के स्वरूप को भले प्रकार जानते हैं, इन्द्रिय और मन को जिन्होंने जीता है उनकी दशा तो ऐसी होती है-

सम्यक् प्रकार निरोध मन वच काय आतम ध्यावते,
तन सुथिर मुद्रा देखि मृग गण उपल खाज खुजावते ।
रस रूप गध तथा परस अरू शव्द शुभ असुहावने,
तिनमे न राग विरोध पचेन्द्रिय जयन पद पावने ॥

धर्म ध्यान का लक्ष्य आत्मा है–

समता, रमता, उर्ध्वता, ज्ञायकता, सुख भास,
वेदकता, चैतन्यता ये सव जीव विलास ।

आत्मा स्वभाव से ही समतामयी, रमणीय, ऊर्ध्व अर्थात् महान्, स्व-पर का ज्ञाता, सुखमय चेतन तत्त्व है । आत्मा के इस स्वरूप का स्पर्श ही धर्मध्यान है । इस ध्यान से चित्त म जमा हुआ कपाय मल का रेचन हो जाता है, गॉठे खुल जाती है, अतीत का वोझ हल्का हो जाता है ।

सेवानिवृत्त आर पी एस
उपाध्यक्ष, मोहन वाड़ी, सूरजपोल,
जयपुर ।

□

स्मरणीय तथ्य

□ सकलन कर्ता
रमेशचन्द जैन

मिथ्यात्व-वेदनीय, ज्ञानावरण तथा चारित्रमोहनीय इस त्रिविधि प्रकार के अधकारो का मूलाचार मे वर्णन आया है- अरहन्त भगवान मिथ्यात्व अधकार से रहित होने से सम्यक्त्व ज्योति से शोभायमान है । ज्ञानावरण के क्षय होने से केवलज्ञान से सकलकृत है । चरित्र मोह के अभाव से परम यथाख्यात् चरित्र सयुक्त है ।

युवक एवं युवतियों को मार्गदर्शन की आवश्यकता

☐ कैलाश चंद साह

हमें अधिकांश प्रौढ एवं वृद्ध महानुभावों से यह सुनने को मिलता है कि आजकल की युवा पीढ़ी तो हमारा कहना ही नहीं मानती । वह न तो सामाजिक बन्धनों में रहना चाहती है और न धार्मिक क्रियाओं जैसे - दर्शन, अभिषेक, पूजा एवं स्वाध्याय को - करना चाहती है इसलिये समाज का भविष्य अन्धकार में है इन विशाल मन्दिरों का क्या होगा इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता । समाज दहेज की प्रथा से बुरी तरह ग्रसित है । 30-35 वर्ष तक की लड़किया अविवाहित बैठी है और वे चाहे किसी जाति के युवक के साथ जाने में हिचक नही करती । ये ऐसे् आरोप हैं जो कोई भी व्यक्ति किसी युवक पर लगा सकता है । ऐसे आरोपों का निराकरण करना मुशकिल ।

वर्तमान में युवक एवं युवतियों को सही मार्गदर्शन मिलता ही नहीं । उनके मम्मी, पापा स्वय णमोकार मंत्र तक नहीं जानते । पूजा पाठ उन्होंने कभी किया नहीं । रात्रि को खाने में भी परहेज नहीं । उनका स्वयं का विवाह भी दहेज के आधार पर हुआ था यह हमको उनकी वातों में भरा जाता है । हायर सैकण्डरी तक शिक्षा वाले बालक वालिकाओं को तो मां वाप यह कह छोड़ देते हैं कि ये तो अभी तक बालक हैं वड़े होने के पश्चात् समझ जावेंगे । युवतियों की तो और भी बुरी हालत है । यह तो सभी जानते है कि वर्तमान में युवतियां अधिक पढी लिखी होती है । उनका ध्यान पढने लिखने में अधिक रहता है । कालेज से देर से आना, लाड़ प्यार में मां-वाप, दादा-दादी द्वारा सभी वंन्धनों से मुक्त करने के कारण वे ऐसे वातावरण में पलती है । जिसमें खाने पहिनने पढ़ने लिखने के अतिरिक्त कुछ नहीं होता । माता पिता के साथ टी. वी देखना, सिनेमाओं में जाना, प्याज, लहसून, जमीकन्द एवं अन्य अभक्ष्य पदार्थो को खाने की उनकी आदत पड़ जाती है ।

विवाह होते ही लड़की को मां वाप की न रहकर सास श्वसुर एवं पति को आज्ञा में रहना होता है । यदि पति महाशय भी वैसे ही विचारों के मिल गये जैसे उसके मां वाप हैं तो फिर घर की पूरी जांच हो विपरीत दिशा में चली जावेगी और उस घर में धार्मिक एवं सामाजिक वातावरण नहीं वन सकेगा ।

इसलिये युवक एवं युवतियों को आज सव से वड़ी आवश्यकता है सही-सही मार्गदर्शन की, और इसी के आधार पर उनके वर्तमान युग के प्रवाह में जीवन को वदला जा सकता है । इस मार्ग के लिये साधु सन्तों के सानिध्य की वहुत आवश्यकता है, लेकिन साधु सन्त स्वयं तो हमारे घर चल कर नहीं आयेंगे, इसलिये हमारे माता पिता, सास श्वसुर एवं पति को चाहिये कि वे अपने साथ हमें भी मुनिराजो के पास ले जावे तथा उनके उपदेश सुनने को [illegible]

प्रदान करे । हमने अभी उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज के चातुर्मास का प्रभाव देखा है जिनके सदुपदेश के कारण सैंकड़ो युवक युवतियो ने अपना जीवन ही वदल लिया है । रात्रिभोजन का त्याग स्वीकार करके दर्शन करने स्वाध्याय करने का नियम को लिया है ।

आज समाज मे जो दहेज प्रथा व्याप्त है उसके मूल मे हमारी लोभ प्रवृति है । तथा युवको की भी यह जिम्मेदारी है कि वे अपने विवाह मे जव दहेज मागा जावे या दिया जावे तो उसका आगे आकर विरोध करे । लेकिन यह देखा गया है कि स्वय युवक यह चाहने लगे है कि उनका विवाह अच्छा दहेज के साथ सम्पन्न हो और युवतियो की भी यह इच्छा होने लगी है कि वह अपने पिता की वहुमुल्य वस्तुओं के साथ अपने ससुराल मे जावे । ये सव वहुत वड़ी बुराइया है जो युवक युवतियो के चरित्र मे पनप गयी है । जिनमे सुधार होने की वहुत आवश्यकता है । और इन सवके लिये समाज को एव युवक युवतियो को सही दिशा निर्देशन की आवश्यकता है ।

673, वोरड़ी का रास्ता
जयपुर -3

❑

स्मरणीय तथ्य

दिव्य ध्वनि किस प्रकार की है ? वह सर्व भापा स्वरुप है, अक्षरात्मक है, अनक्षरात्मक है । अनन्त अर्थ है गर्भ मे जिसके ऐसे वीज पदो से निर्मित है-अर्थात् वह बीज पदो का समुदाय है ।

चौसठ ऋद्धियो मे वीज बुद्धि नाम की ऋद्धि का भी कथन आता है जिसे राजवार्तिक मे इस प्रकार समझाया है "जैसे हल के द्वारा सम्यक प्रकार तैयार की गई उपजाऊ भूमि मे योग्य काल मे वोया गया एक भी वीज वहुत बीजो को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के प्रकर्प से एक वीज पद के ज्ञान द्वारा अनेक पदार्थो को जानने की बुद्धि को वीज बुद्धि कहते हैं- "सुकृष्ट सुमथीकृते क्षेत्रे सारवति कालादिसहायापेक्ष वीजमेकमुप्त यथा अनेक बीजकोटिप्रद भवति तथा नोइन्द्रियश्रुतावरण वीर्यान्तरायक्षयोपशम प्रकर्प सति एक वीज पद ग्रहणादनेक पदार्थ प्रतिपत्ति वीज बुद्धि ' '(रा वा अध्याय ३ सूत्र ३६ पृ १४३)

दिव्य ध्वनि तीर्थकर प्रकृति के विपाक-उदय की सवसे महत्वपूर्ण वस्तु हे, क्योंकि तीर्थकर प्रकृति कर्म का वध करते समय केवली, श्रुतकेवली के पादमूल मे इसी भावना का वीज वोया गया था कि इस वीज से ऐसा वृक्ष वने जो समस्त प्राणियो को सच्ची शान्ति तथा मुक्ति का मगल सदेश प्रदान कर सके ।

रमेशचन्द जैन

जैन कला को समर्पित मारोठ कला घराना

☐ प्रदीप जैन

मारोठ कला घराने के कलाकार चित्राकंन के साथ ही हाथीदांत, चंदन और संगमरमर के मूर्ति शिल्प में भी दक्षता रखते हैं। भवन निर्माण में भी इनकी कलात्मक प्रतिभा मुखरित हुई है। संवत् 1709 के इसी घराने के कलाकार जयकिशन कुमावत की कला के नमुने आज भी उपलव्ध हैं जिनसे तत्कालीन कला परम्परा का अनुमान किया जा सकता है। इनकी सृजन क्षमता ने तत्कालीन दिगम्वन जैन सम्प्रदाय और धर्म के हस्तलिखित ग्रंथों को भी अलंकृत किया है। उनकी कथाओं को चित्रांकित भी किया है मारोठ उस समय में परिवर्तन-परिवर्धन एवं प्रतिकृतियों के लिए भेजे जाते तथा इन्हें सम्वन्धित विपयों के चित्रो एवं प्रतीकों के द्वारा कलाकारों के माध्यम से सुशोभित किया जाता था। जयकिशन कुमावत इसकाल में एक मात्र उस्ताद थे। इनके वड़े पुत्र रामलाल ने अपने पिता के सभी गुण विरासत में प्राप्त कर उस्ताद कलाकार के रुप में ख्याति अर्जित की। इस घराने की कला उत्कृष्टता के नमुने आज भी प्राचीन हस्तलिखित जैन ग्रंथों में उपलव्ध है जो कि प्रायः समस्त जैन मन्दिर के शास्त्र भण्डारों तथा निजी संग्रहों में संगृहीत है।

इस घराने की कला का प्रमुख केन्द्र है मारोठ जहाँ के विशाल चार जैन मंदिरों में संवत् 1635 से अव तक के कलाकारों की कलाकृतियॉ उपलव्ध हैं।

16 वी शताब्दी मारोठ कला घराने के कला वैभव का स्वर्ण युग है। यहाँ के राजा रघुनाथ सिह के कला प्रेम ने इन कलाकारों की विस्मयकारी क्षमता तथा कलात्मक प्रतिभा का उचित उपयोग भवन निर्माण कला में भी किया। यहॅा कि सुप्रसिद्ध सात खण्ड की वावड़ी ने 56 के भयंकर अकाल में जहॉ यहाँ के निवासियों को पानी का अभाव महसूस नही होने दिया वहीं इसके पानी ने मारोठ के आसपास वने केसर के वागों की भी सिचाई की। यहॉ के विशाल भवन, मन्दिर, वावड़ियॉ, कुऍं तत्कालीन वास्तुकला के नमुने है जिनमें यहाँ के कलाकारों की कल्पना शक्ति,अलौकिक कलात्मक दक्षता और क्षमता पूर्ण उपयोग हुआ है।

संवत् 1840 के लगभग जयपुर के राजा प्रतापसिंह के शासन में यहॉ की कला में एक नया प्रयोग हुआ। मुगल दरवार में ईरानी आगमन ने यहां कि कला में भी अलंकरण के वाहुल्य का संचार किया। सुशोभन और अलंकरण के प्रति दरवारों में भी आकर्पण उत्पन्न हुआ फलतः यहाँ के कलाकार भी इसे अधिकतूल देने लगे। अव सच्चे मोती, माणिक, पन्नों आदि रत्नों के टुकड़ों से चित्रों को अलंकृत किया जाने लगा। इन रत्नों के सोने की कलमकारी को भी अधिक पसन्द किया। इसी प्रकार रंगीन कॉंच के छोटे-छोटे टुकड़ों से दीवारों, छतों और महरावों को सोने के रंग की कलमकारी के साथ सुशोभित करने का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। इस विशिष्ट कला कार्य में भी मारोठ कला घराने के कुमावत कलाकारों ने अपनी विशिष्टता का परिचय दिया। रामलाल कुमावत ने संवत् 1880 में अंग्रेजों के साथ आए कांच की पच्चीकारी में माहिर एक घुमक्कड़ कलाकार से यह कार्य सीखा था। इस विदेशी कलाकार ने, जो कि कला के शोध के, पच्चीकारी में माहिर एक घुमक्कड़ कलाकार से यह कार्य सीखा था। इस विदेशी कलाकार ने, जो कि कला के शोध के प्रयोजन से जयपुर आया था, जव मारोठ की कला एवं कलाकारों के कला कौशल के बारे में जानकारी प्राप्त की तो श्यामगढ़ ठाकुर के माध्यम से मारोठ कला घराने के कलाकारों से सम्पर्क कर उन्हें विश्व के विभिन्न स्थानो में हो रहे कॉच के टुकड़ो के प्रयोग और उसकी तकनीक से परिचित कराया। श्यामगढ़ के जागीरदार जो कि मारोठ के राजा रघुनाथ सिंह के सहयोग से एक शानदार भवन

बनवाया जिस काँच की पच्चीकारी एव सोने का कार्य से सुशोभित करवाया । यह भवन एसी तकनीक और वैज्ञानिक पद्धति स तैयार किया गया जो कि सर्दियो मे गर्म और गर्मियो म ठण्डा रहे ।

इस अधिकारी ने बेल्जियम और इग्लैण्ड से काच मगवाकर रामलाल कुमावत को इस कला काय मे दक्ष बनाया । उसन इस कला का उपयाग मारोठ के जैन मन्दिरों और राजभवन म किया । फलत इस विशिष्ठ कला कार्य कीचर्चा दूर-दूर तक फैलने लगी । जैन समाज शुरु से ही समृद्ध था तथा धर्म के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा थी इसलिए जैन मन्दिरो मे इस कला कार्य के लिए एक अद्भुत प्रतिस्पर्धा न जन्म लिया और रामलाल कुमावत को इस कार्य क लिए अनुबन्धित किया जाने लगा । इन्होंने इस कला विधा म अपनी अद्भुत कलात्मक प्रतिभा का प्रदर्शन किया । इनकी इस कार्य मे सिद्धि को देखकर18 म 19 वीं शताब्दी प्रारम्भ तक उन्हे राजस्थान स बाहर अन्य प्रान्तो म भी अपने कला प्रदर्शन का अवसर प्राप्त हुआ। इन्दौर के सर सेठ हुकमचन्द कासलीवाल न जब मारोठ के विशाल मन्दिरो म इस आकर्षक कला विधा का अवलोकन किया तो रामलाल को इन्दौर के विशाल जैन मन्दिर मे भी शीशमहल की भाति काच और सोन के कार्य के लिए अनुबधिक किया ।

रामलाल कुमावत 'उस्ताद' न राजस्थान की इस कला परम्पराको निरन्तरता प्रदान करन क उद्देश्य स अपन चार पुत्रो देवबक्श, रिखबचन्द गगाराम और शिवबक्श को पारगत बनाया । शिवबक्श न इस कला परम्परा का प्रचार अपन कार्य क द्वारा किया । सरदारपुर के समीप भोपावर स्थान पर श्वेताम्बर जैन सप्रदाय के शातिनाथ मन्दिर में इनके सोने काच की पच्चीकारी तथा चित्राकन की सुस्चना एव विस्मयकारी कला कौशल न इसे आज मध्यप्रदेश क मुख्य तीर्थ रूप म प्रतिष्ठापित किया है । शिवबक्श ने इस पुश्तैनी कला म अपन पुत्र भवरलाल घीसालाल, आशाराम, धन्नालाल और विनोद को तकनीकी ज्ञान प्रदान कर दक्ष बनाया । घीसालाल ने अन्य प्रान्तों मे लम्बी अवधि तक काय करने तथा वहा के जनजीवन और सास्कृति परिवेश स साक्षात्कार करने से अन्य प्रान्तो के कला तत्वो का भी समावेश हो गया जिससे इस कला म विविधता और नवीनता का सचार हुआ । इसे उनके पुत्र सुभाष कुमावत न आगे बढ़ाया ।

इस घरान की यह परम्परा वर्तमान म भी अपनी गति धारण किए हुए है । सुभाष कुमावत ने वशानुगत कला परम्परा का सम्पूर्ण ज्ञान क साथ अपनाया है । उचित सशोधन और परिवर्तन क साथ कतिपय सफल प्रयोगो द्वारा इसम नवीनता का सचार किया है । इन्होंने निरत प्रयोगो के बल पर उन्नतादर काच का निर्माण किया है । काँच पर रागे के स्थान पर चादी की पालिश मे उसकी चमक को स्थायित्व दिया है । तदुपरात ताबे की पालिश से उसे दीर्घकालीन टिकाऊपन दिया है । इसका उपयोग इन्होंने सर्वप्रथम श्री महावीरजी स्थित पार्श्वनाथ मन्दिर में किया है ।

श्री सुभाष कुमावत न कला को व्यावसायिक न बनाकर इस परम्पराको जन-जन तक पहुँचाने क उद्देश्य स देश विदश मे होने वाल नये परिवर्तन का भी अपनी वतमान शैली मे सम्मलित किया है । वर्तमान मे काच क पीछे सोन की पालिश की नई तक्नीक जर्मनी न विकसीत की जिसे आयातित काच के नाम स बम्बई म बनाया जा रहा है । यह तकनीक बहुत महगी है लेकिन फिर भी इस इन्होंने अपनी काच कला म प्रयोग देश म काँच कला म नई क्रान्ति का सूत्रपात किया है ।

श्री कुमावत वर्तमान म श्री श्वेताम्बर जैन मन्दिर, जौहरी बाजार व श्री दि जैन मन्दिर भोलानाथ नगर दिल्ली व श्री दि जैन मन्दिर कोर्ट रोड सहारनपुर म कार्य कर रह है । इन्होंने अपने पास लगभग 15 नये कलाकारो का तैयार करने म लगे है जो इस कला को आगे बढ़ा सके । इन्हाने जयपुर क दि जैन मन्दिर पार्श्वनाथ एव दि जैन मन्दिर जो बनर मे भी अपनी कला प्रदर्शित की है ।

बारडी का रास्ता
किशनपाल बाजार, जयपुर ।

□

INFLUX AND BONDAGE OF KARMAS IN JAIN PHILOSOPHY

☐ DR. S.C. JAIN.

The philosophies which propound the doctrine of final release of the soul will have to explain the process of the world. In Jainism the conscious beings are grouped under two heads - the worldly living beings and the liberated ones1. The problem of the influx and bondage of karmas, technically known by the Sanskrit terms asrava and bandha, arises only in case of he worldly lving beings subject to wanderings of the world being in the grip of the karma-forces. These lives may be called the 'selves' of Jaina philosophy. These selves are the joint products of soul and karma-matter; and it is difficult to class them exclusively either with soul or with karma-matter. This very difficulty was experienced and solved by Brahmadeva Suri when he tried to explain the situation in the following words :

> "Here the disciple says, 'Are attachment, aversion etc born of karmas or of souls ?' There the reply is 'like the son born of the contact between man and woman and like the particular colour (crimson) resulting from the mixing of lime and turmeric, they are born of the association between the two, soul and karma-matter. Then under the technique of partial comprehension (naya) from the impure real point of view they are held to be born of soul. This impure real point of view is practical point of view. The question may be raised 'Whose are they from the actual pure point of view ?' The reply is 'From the actual pure point of view like the son born without the contact between man and woman and like the colour (crison) without the mixture of lime and turmeric, even the emergence of their existence is not there, how should we answer the question ?"2

Jainism enumerates seven principles (tatavs or padarthas) in the context of the soul's ascending journey terminating in the attainment of the final release from the worldly shackles. These principles are the soul (jiva), the non-soul (ajiva), influx (asrava) bondage (bandha), stoppage of influx (samvara), shedding of karmaic dust (nirjara) and liberation (moksa).3 To put it in another form, the world constitutes the stage for the drama to be enacted between the soul and matter, the first two principles as enumerated above The next four principles i.e. influx (asrava), bondage (bandha), stoppage of influx (samvara) and expulsion of the bound matter (nirjara) are the processes depending on and

going between the selves and karma matter Liberation (moksa) is the culmination of these processes It may be noted that the first two principles in the list are substances of Jainism and hold the status of actors in the drama. In the state of liberation the two actors are dissociated from each other 4 An extension in enumerating these principles beyond seven may not be very relevant in this context and may be seen to involve some difficulties

The possibility of enactment on the world stage depends on a sort of mutual co operation between the two actors i e the selves and the karma matter These two, if held in absolute dissection from each other one may think that enactment on the stage would never have started The French philosopher Descartes could not satisfactorily solve the problem of the relation between soul and matter because his absolute dualism of soul and matter allowed no chance of meeting between the two The Vedanta School of Indian philosphy propounded the monism of Brahma which has no other parallel to itself, and the question of bondage of the Brahma in the true sense, does not arise Vedanta thus tried to dismiss the problem of the emergence of the world (sansar) The Sankhyan school of Indian philosophy marks an advance on the Vedantic position It starts with the dualism of soul (Purusa) and matter (Prakrti) but makes the former absolutely immutable like the Brahma of Vdanta The responsibility of generating the world process is entirely thrown on the shoulders of Prakriti The only concession it grants in the name of a relationship between Purusa and Prakrti is that Prakrti becomes active in the mere presence of Purusa Purusa contributing nothing in the process Then too one would feel that, the absolute passivity of Purusa may place the Sankhyan school with Vedanta as regards the generation of the world process With this background the Jaina philosophy gave its explanation for the relationship between soul and karma matter by propounding the theory of nimitta causation According to it the two members come in relationship with each other but with no mutual transformation of their substances, hence of their attributes One is simply an occasion for the transformation in the other Amrtacandra states

> The conscious being undergoes transformations by its own conscious manifestations the material karmas are simply auxiliary causes for them
>
> Obtaining the manifestations of the conscious beings the collocations of matter undergo manifestations as karmas by themselves 5

The position is something like that of Occasionalism of Western philosophy and the catalyst element of Science The conclusion is that whatever transformations are perceived in the two actors on the stage are their own but stand in need of mutual help in the manner discussed above This manner of action between them may be diluted to interactionism or parallelism by adopting different angles of view

The principle of influx (asrava) has been described as the activity (karma action) through body speech and mind 6 Again this activity is named as

'yoga' which elsewhere has been defined as the vibrations of the units (monads) of the soul.7 Such vibrations are dependant on the fine matter (vargana) of body, speech and mind.8 This means that the soul on account of its capacity to vibrate by accepting the help of the above mentioned three types of fine matter just suffers from the vibrating activity of its units supposed to exist in its undivided substance.9 From the moral point of view these vibrations, not being even psychological in nature, present a difficulty in an ethical context. They are comparable with the movements and, to be more specific, with the shivering of the body These actions of the body appear to be bereft of moral quality. A distinction among these vibrations as being bodily, vocal and mental and also as crooked and straight10 needs to be located in terms of vibrations themselves and not in terms of their antecedent or consequent factors. It is quite possible that something like the concept of wave-length in Physics to give 'perception of different colours may have to be introduced to disclose the element lurking behind these vibrations. Activity (karma) and vibration (yoga) do not seem to be indentical. Activity has a wider scope; vibration is only a form of activity. This gives rise to the quesion whether we can equate all activity to vibration. It is perhaps due to this limitation that the action (karma) of Umasvati had to be modified in its connotation to bring it nearer to vibrations; or we have to hold that every activity of the organism implies vibrations behind it, and we are concerned only with these vibrations in the present context. Besides the process covered under the principle of influx (asrava) we are also led to think about and locate an element, generated by vibrations (yoga), which makes the soul capable of attracting karma-matter towards it. Can we suppose that the soul, in this situation, gains in a force of attraction which draws the karma-matter to it ? Then, this force should be called 'yoga' and the vibrations which generate the forces do not deserve to be called 'yoga'. The objective influx (dravyasrava) is to be known as the inflow of matter capable of becoming kara 11 It suggests that karma-matter is drawn to the soul from space not occupied by the soul. Matter existing co-spatially with soul does not pose a problem of attraction owards the soul.

Regarding the process of bondage it has been said that only the karma-matter co-spatial with the soul gets bound with it on account of vibrations of the soul The question then arises whether the vibrations determining the influx also determine bondage, or some other set of vibrations is required for bondage. This also leads to the question whether influx and bondage take place simultaneously or successive instants of time are required for their accomplishment. If the same set of vibrations is allowed to accomplish the two processes, it will be difficult to differentiate between the processes of influx and bondage To avoid this difficulty the temporal difference seems to have been admitted as under :

> "In the context of influx and bondage the same causes have been enumerated, then what difference is there between them influx and

bondage) If so it is not like this In the first moment of time the incoming of karma matter is influx after it in the moments following co spatial occupation of the karma matter on the units of the soul is bondage"12

Thus a temporal difference between influx and bondage stands admitted

A special type of fine matter has been recognized as 'karma vargana spread in the entire world 13 The process of influx is connected with this matter capable to be modified into karma Objectively the process of influx is connected with this matter Till now there seems to be no specification of karma matter into different varieties of karmas of the primary (mula) or secondary (ultara) classes Then, due to other factors including vibrations the bondage takes place 14 This order of action between the soul and matter seems intelligible The determination of the nature of karmas with their varieties is achieved at the stage of bondage and is termed as 'prakrti bandha An enumeration of variety of causes for the influx of various karmas is likely to appear inconsistent as no such specification of karmas takes place before prakrti bandha This part of the subject would have been justly treated under the process of bondage Supported by vibrations the different passions go to determine the process of bondage in all its four aspects the determination of the nature of bound matter duration of such bondage co evality of the substances of soul and karma matter and its potency to effect the intensity of fruition 15 Metaphysically speaking, the co evality of the soul and karma matter (Pradesh bandh) is the bondage, the other types of bondage as mentioned above being its aspects only

We may note that the worldly souls have always been bound with karma matter and karma matter not bound with them is always present in the atmosphere In the process of influx the two members to be bound together stand face to face The first member i e the soul already bound with karma matter as there the other waits only to be assimilated as karma matter by the first member As the process of bondage between them ensues the atoms of karma matter attack the units of the woul and become co spatial with them each unit of the soul being laden with infinite molecules of karma matter 16 The bound soul has already got a structure effected by he soul s units and the karma matter bound with it Hence newly added karma matter has to bind itself with the karma matter already bound with the soul For this physical laws of bondage alone will be required and the vibrations will have no function therein The laws have been given in terms of degrees of viscosity and roughness 17 To this point it is no bondage in the sense of ethical context Unless the already bound matter or the newly bound matter is able to create some affinity amounting to their identity the process of bondage is not complete They say In the context of bondage there is oneness (of soul and karma matter) from the view point of their definition a distinction between them is there Therefore non corporeal nature cannot be absolutely admitted to the soul 18 Some type of identity in the form of mutual fusion integration or assimilation in the union of

soul and karma-matter has to be located, without which the term bondage will not give us a meaningful sense. This very fact is emphasised above. It will cause no loss in the substantial status of the two members. It should also be admitted that in the union the components do not remain as they are in their states of isolation, but are mutually modified. The soul's drift towards nescience and that of matter towards instrumentality for science are striking instances of the mutual action between the soul and karma-matter. All this takes place with the limitation that neither the soul nor karma- matter are deprived of their substantial status by a transformation fo the one into the other - a limitation placed in them by nature.19 This we may call the basic bondage. The nature of karma-matter so bound, the duration of bondage and its capacity for fruition are the three dimensions of the basic bondage, though bondage, in general, has been described as four dimensional, basic bondage also being taken as one dimension.

References :-

(The aphorisms of Tattvarthasutra mentioned herein are the same in the Digambara and Svetambara versions.)

1. Umasvati : Tattvarthasutra, II. 10.
2. Nemicandra . Brhddravya samgraha (Shri Shanti Vir Digamber Jain Sansthan, Shri Mahavirji), p. 178.
3. Umasvati Tattvarthasutra, I. 4
4. Ibid., X.1.
5. Kundakunda : Samayasara (Bharatiya Jain Siddhant Prakashini S... 1914) Versa 86.
   Amrtacandra : Purusarthasiddhyupaya, verse 12, 13.
6. Umasvati : Tattvarthasutra, VI. 1.
7. Ibid., VI. 1
8. Devanandi : Sarvartha siddhi (Jainendra Mudranalaya, Kolhapur), p
9. Umasvati : Tattvarthasutra, V, 6.
10. Ibid, VI. 21 A, 22.
11. Nemicandra : Dravya samgraha, verse 31.

11(a). Umasvati : Tattvarthsutra, VIII. 24.

12. Nemicandra : Brhaddravyasamgraha, pp. 80-81
13. Nemicandra Siddhanta Cakravarti : Gommatasara, Jivakanda, verse 594
14. Umasvati : Tattvarthasutra, VIII 1.
15. Ibid, VIII 4
16. Ibid, VIII. 24
17. Ibid, V. 33
18. Bandham padi eyattam/lakkhanado bhavadi tassa bhinnatam/Tamha amuttibhavo neganto hodi jivassa
19. Kundadunda . Samayasara, Verses 110 and 385

Jain tenets vindicated in Porphyry

☐ Gyan Chand Biltiwala

In part II of this number of Smarika we have given an introduction of Porphyry his book 'De Abstentia (On Abstinence from animal food) and a two day seminar in Rajasthan University in December last over it Throughtout the book one reads a strong inspired flow of argument in favour of non killing of animals either for food or for the worship of deity not molesting the one sensed vegetables beings unnecessarily, living a simple life not fattening the bodily needs instead a passionless life dedicated to self-realisation to intellect Not only in all this he vindicates Jain tenets and way of life, he narrates the prehistory of mankind broadly parallel to the jain concept of avasarpini–from bhogbhumi to karma bhumi meat eating and sacrifice of animals coming later In the ancient substance days man was innocent

fruition 15 Book is worth reading from A to Z if one gets it here we are (Pradesh ban excerpts showing that the light of Jain/Sraman thought was not being its aspec geographical limits of India but beaconed the path of intelligent -We people in distant lands in the ancient world

karma matt editor of the book Esme Wynne Tyson tells us that Constantine atmosphere and other Christian rulers banned the Greek academies destroying stand faces and thus called in the dark ages (see the article in Part II) Such karma foolish acts have been perpetrated by fanatics in India also Men of krishna lesya root out the tree for their present needs and bring miseries to themselves and others They make fool of people and do not let them know their real past their real selves in short the truth As in the name of sending people to heaven Parvat and his followers sacrificed animals and even men so is the word renaissance deceptiue Tyson writes that with the closing of schools of Athens by Justinian it was the philosophy and true meaning of religion that was forced to give way and this abandonment of reason was the natural precursor of the dark ages from which despite the Renaissance the western world has never metaphysically recovered He is straightforward to admit that on the modern alters of Aesculapius the scientific experimental laboratories many million animals are sacrificed every year " Above all the the dangerous ecological threat is compelling man today to listen to Porphyry and so also to Jain acharyas/Sramanas

To enumerate some parallel thinking in Porphyry with Jain tenets (1) Dharma is taught to the deserving and not to every one-

BI/27 "But I write to the man who considers what he is, whence he came, and whither he ought to tend, and who, in what pertains to nutriment, and other necessary concerns, is different from those who propose to themselves other kinds of life; for to none but such as these do I direct my discourse. For, neither in this common life can there be one and the same exhortation to the sleeper, who endeavours to obtain sleep through the whole of life, and who, for this purpose, procures from all places things of a soporiferous nature, as there is to him who is anxious to repel sleep, and to dispose everything about him to a vigilant condition."

(2) Those who want to tread the path of continence should keep away from the incontinent people and their ways -

I/28 "To the man, however, who once suspects the enchantments attending our journey through the present life, and belonging to the place in which we dwell; who also perceives himself to be naturally vigilant, and considers the somniferous nature of the region which he inhabits;–to this man addressing ourselves, we prescribe food consentaneous to his suspicion and knowledge of this terrene abode, and exhort him to suffer the somnolent to be stretched on their beds, dissolved in sleep. For it is requisite to be cautious, lest as those who look on the blear-eyed contract on ophthalmy, and as we when present with those who are yawning, so we should be filled with drowsiness and sleep, when the region which we inhabit is cold, and adapted to fill the eyes with rheum, as being of a marshy nature, and drawing down all those that dwell in it to a somniferous and oblivious condition. If, therefore, legislators had ordained laws for cities, with a view to a contemplative and intellectual life, it would certainly be requisite to be obedient to those laws, and to comply with what they instituted concerning food. But if they established their laws looking to a life according to nature, and which is said to rank as a medium, [between the irrational and the intellectual life], and to what the vulgar admit, who conceive externals and things which pertain to the body to be good or evil, why should anyone, adducing their laws, endeavour to subvert a life, which is more excellent than every law which is written and ordained for the multitude, and which is especially conformable to an unwritten and divine law? For such is the truth of the case "

(3) To return to our original (pure) nature we should divest ourselves from everything material, even the clothes-

I/31 "--------- if we are desirous of returning to those natures with which we were formerly associated, we must endeavour to the utmost of our power to withdraw ourselves from sense and imagination, and the irrationality ---and also from the passions--.But such things as pertain to intellect should be distinctly arranged, procuring for it peace and quiet from the war with the irrational part, that we may not only be auditors of intellect and intelligibles, but may as much as possible enjoy the contemplation of them, and, being established in an

incorporeal nature may truly live through intellect, and not falsely in conjunction with things allied to bodies We must therefore divest ourselves of our manifold garments, both of this visible and fleshly vestment and of those with which we are internally clothed and which are proximate to our cutaneous habiliments and we must enter the stadium naked and unclothed striving for [the most glorious of all prizes] the Olympia of the soul The first thing, however, and without which we cannot contend is to divest ourselves of our garments But since of these some are external and others internal, thus also with respect to the denudation one kind is through things which are apparent but another through such as are more unapparent Thus, for instance not to eat or not to receive what is offered to us belongs to things which are immediately obvious but not to desire is a thing more obscure, so that together with deeds, we must also withdraw ourselves from an adhering affection and passion towards them For what benefit shall we drive by abstaining from deeds when at the same time we tenaciously adhere to the causes from which the deeds proceed ?

(4) Simple vegetarian diet makes life easy and frees mind from passions

I/46 Reason therefore very properly rejecting the much and the superfluous will circumscribe what is necessary in narrow boundaries in order that it may not be molested in procuring what the wants of the body demand through many things being requisite nor being attentive to elegance, will it need a multitude of servants nor endeavour to receive much pleasure in eating nor through satiety to be filled with much indolence nor by rendering its burden [the body] more gross to become somnolent nor through the body being replete with things of a fattening nature to render the bond more strong but himself more sluggish and imbecile in the performance of his proper works For let any man show us who endeavours as much as possible to live according to intellect and not to be attracted by the passions of the body, that animal food is more easily procured than the food from fruits and herbs, or that the preparation of the former is more simple than that of the latter and, in short, that it does not require cooks but when compared with inanimate nutriment is unattended by pleasure is lighter in concoction and is more rapidly digested excites in a less degree the desires and contributes less to the strength of the body than a vegetable diet

I/47 If however neither any physician nor philosopher nor wrestler nor any one of the vulgar has dared to assert this why should we not willingly abstain from this corporeal burden? Why should we not at the same time liberate ourselves from many inconveniences by abandoning a fleshly diet? For we should not be liberated from one only but from myriads of evils by accustoming ourselves to be satisfied with things of the smallest nature viz we should be freed from a superabundance of riches from numerous servants a multitude of utensils a somnolent condition from many and vehement diseases from medical assistance incentives to venery more gross exhalations an

abundance of excrements, the crassitude of the corporeal bond, for the strength which excites to [base] actions, and in short, from an Iliad of evils. But from all these, inanimate and slender food, and which is easily obtained, will liberate us, and will procure for us peace, by imparting salvation to our reasoning power. For, as Diogenes says, thieves and enemies are not found among those that feed on maize, but sycophants and tyrants are produced from those who feed on flesh."

(5) When we are conscious of our karmic Chains and feel an urgency to get released from them we can not be desirous of outside riches-

I/55"---- is it not absurd, that he who is in great affliction -----does not even think of food, nor concerns himself about the means of obtaining it; but when it is placed before him, refuses what is necessary to his subsistence; and that the man who is truly in bonds, and is tormented by inward calamities, should endeavour to procure a variety of eatables, paying attention to things through which he will strengthen his bonds?"

6. Animal sacrifice is a later introduction and was not prevalent in good ancient days-

II/27 "For at first, indeed, sacrifices of fruits were made to the Gods; but, in the course of time, men becoming negligent of sanctity, in consequence of fruits being scarce, and through the want of legitimate nutriment, being impelled to eat each other, then supplicating divinity with many prayers, they first began to make oblations of themselves to the Gods, not only consecrating to the divinities whatever among their possessions was most beautiful, but proceeding beyond this, they sacrificed those of their own species. -------- Proceeding therefore from hence, they made the bodies of other animals supply the place of their own in sacrifices, and again, through a satiety of legitimate nutriment, becoming oblivious of piety, they were induced by voracity to leave nothing untasted, nothing un-devoured."

7. Animals and plants even, have both matio and sruta Jnana howsoever elementary. We could desist from molesting even plants Dr. Raj Kumar's aricle on Srutajnana in Part I).

III/23 "Hence, in a similar manner, we must not say that brutes, because their intellection is more dull than ours, and because they reason worse than we do, neither energize discursively, nor, in short, possess intellection and reason; but it must be admitted that they possess these, though in an imbecile and turbid manner, just as a dull and disordered eye participates of sight." Further in Book IV/20 "I wish, indeed, that our nature was not so corruptible and that it were possible we could live free from molestation, even without the nutriment derived from fruits. O, that, as Homer says, we were not in want either of meat or drink, that we might be truly immortal:- the poet in this speaking beautifully signifying, that food is the auxiliry not only of life, but also of death It

therefore, we were not in want even of vegetable aliment, we should be by so much the more blessed in proportion as we should be more immortal '

8 Jain Acharyas hold in numerable animals as Samyakdristis and Vratis Porphyry also writes extensively on their rationality, sagacity sense of Justice etc -

III/7 But it is now requisite to show that brutes have internal reason The difference, indeed, between our reason and theirs, appears to consist as Aristotle somewhere says, not in essence but in the more and the less just as many are of opinion, that the difference between the Gods and us is not essential, but consists in this that in them there is a greater and in us a less accuracy, of the reasoning power And, indeed, so far as pertains to sense and the remaining organization according to the sensoria and the flesh, every one nearly will grant that these are similarly disposed in us, as they are in brutes For they not only similarly participate with us of natural passions and the motions produced through these but we may also survey in them such affections as are preternatural and morbid No one, however of a sound mind will say that brutes are unreceptive of the reasoning power, on account of the difference between their habit of body and ours when he sees that there is a great variety of habit in men, according to their race, and the nations to which they belong and yet at the same time it is granted that all of them are rational An ass therefore, is afficted with a catarrh and if the disease flows to his lungs, he dies in the same manner as a man A horse too, is subject to purulence, and wastes away through it like a man He is likewise attacked with rigour, the gout, fever, and fury, in which case he is also said to have a depressed countenance A mare, when pregnant, if she happens to smell a lamp when it is just extinguished, becomes abortive, in the same manner as a woman An ox and like a camel are subject to fever and insanity a raven becomes scabby, and has the leprosy, and also a dog who, besides this is afflicted with the gout, and madness but a hog is subject to hoarseness, and in a still greater degree a dog, whence this disease in a man is denominated from the dog, cynanche ----

"See however, whether all the passions of the soul in brutes are not similar to ours for it is not the province of man alone to apprehend juices by the taste, colours by the sight, odours by the smell, sounds by the hearing, cold or heat or other tangible objects, by the touch but the senses of brutes are capable of the same perceptions Nor are brutes deprived of sense because they are not men as neither are we to be deprived of reason because the Gods if they possess it are rational beings With respect to the senses, however other animals appear greatly to surpass us, for what man can see so actuely as a dragon ? (for this is not the fabulous Lynceus) And hence the poets denominate to see drakein but an eagle, from a great heigt, sees a hare What man hears more acutely than cranes who are able to hear from an inteval so great as to be beyond the reach of human sight ? And as to smell almost all animals so much surpass us in this sense that things which fall on it and are obvious to them, are

concealed from us; so that they know and smell the several kinds of animals by their footsteps. Hence, men employ dogs as their leaders, for the purpose of discovering the retreat of a boar, or a stag. And we, indeed, are slowly sensible of the consititution of the air; but this is immediately preceived by other animals, so that from them we derive indications of the future state of the weather----. As, however, in one and the same species of animals, one body is more, but another less healthy; and, in a similar manner, in diseases, in a naturally good, and a naturally bad, disposition, there is a great difference; thus also in souls, one is natually good, but another depraved : and of souls that are depraved, one has more, but another less, of depravity. In good men, likewise, there is not the same equality; for Socrates, Aristotle, and Plato, are not similarly good. Nor is there sameness in a concordance of opinions. Hence it does not follow, if we have more intelligence than other animals, that on this account they are to be deprived of intelligence; as neither must it be said, that partidges do not fly, because hawks fly higher; nor that other hawks do not fly, because the bird called phassophonos flies higher than these, and than all other birds.----

III/10. "But he who says that these thigs are naturally present with animals, is ignorant in asserting this, that they are by nature rational; or if this is not admitted, neither does reason subsist in us naturally nor with the perfection of it receive an increase, so far as we are naturally adapted to receive it. A divine nature, indeed, does not become rational" thourgh learning, for there never was a time in which he was irrational; but rationality is consubsistent with his existence, and he is not prevented from being rational because he did not recieve reason through discipline : though, with respect to other animals, in the same manner as with respect to men, many things are taught them by nature, and some things are imparted by discipline. Brutes, however, learn some things from each other, but are taught others, as we have said, by men

9. In the end, it is interesting to note what were brahmanas and sramanas like in Ceaser's time according to Porphyry-

IV/17 "For the polity of the Indians being distributed into many parts, there is one tribe among them of men divinely wise, whom the Greeks are accustomed to call Gymnosophists. But of these there are two sects, over one of which the Bramins preside, but over the other the Samanaeans. The race of Bramins, however, receive divine wisdom of this kind by succession, in the same manner as the priesthood. But the Samanaeans are elected, and consist of those who wish to possess divine knowledge And the particulars respecting them are the following, as the Babylonian Bardesanes narrates, who lived in the times of our fathers, and was familiar with those Indians who, together with Damadamis, were sent to Caesar. All the Bramins orginate from one stock, for all of them are derived from one father and one mother But the Samanaeans are not the offspring of one family, being, as we have said, collected form every nation of Indians. A Bramin, however, is not a subject of any government, nor does he contribute any thing together with others to government And with

respect to those that are philosophers, among these some dwell on mountains, and others about the river Ganges And those that live on mountains feed on autumnal fruits, and on cows' milk coagulated with herbs But those that reside near the Ganges live also on autumnal fruits which are produced in abundance about that river The land likewise nearly always bears new fruit, together with much rice, which grows spontaneously, and which they use when there is a deficiency of autumnal fruits But to taste of any other nutriment, or, in short, to touch animal food, is considered by them as equivaltent to extreme impurity and impiety And this is one of their dogmas They also worship divinity with piety and purity They spend the day, and the greater part of the night, in hymns and prayers to the Gods, each of them having a cottage to himself, and living, as much, as possible alone For the Bramins cannot endure to remain with others, nor to speak much but when this happens to take place, they afterwards withdraw themselves, and do not speak for many days They likewise frequently fast But the Samanaeans are, as we have said elected When, however, any one is desirous of being enrolled in their order, he proceeds to the rulers of the city but abandons the city or village that he inhabited, and the wealth and all the other property that he possessed Having likewise the superfluities of his body cut off he receives a garment, and departs to the Samanaeans, but does not return either to his wife or children if he happens to have any, nor does he pay any attention to them, or think that they at all pertain to him And with respect to his children indeed the king provides what is necessary for them, and the relatives provide for the wife And such is the life of the Samanaeans But they live out of the city and spend the whole day in conversation pertaining to divinity They have also houses and temples, built by the king in which they are stewards who receive a certain emolument from the king for the purpose of supplying those that dwell in them with nutriment But their food consists of rice bread autumnal fruits, and pot herbs And when they enter into their house, the sound of a bell being the signal of their entrance, those that are not Samanaeans depart from it, and the Samanaeans begin immediately to pray But having prayed, again, on the bell sounding as a signal, the servants give to each Samanaean a platter, (for two of them do not eat out of the same dish) and feed them with rice And to him who is in want of a variety of food a pot-herb is added or some autmnual fruit But having eaten as much as a requisite without any delay they proceed to their accustomed employments All of them likewise are unmarried and have no possessions and so much are both these and the Bramins venerated by the other Indians, that the king also visits them, and requests them to pray to and supplicate the Gods, when any calamity befals the country or to advise him how to act

☐

राजस्थान जैन सभा उन सभी विज्ञापन दाताओं की आभारी है जिन्होंने इस स्मारिका में अपने प्रतिष्ठान का विज्ञापन देकर अपना सहयोग प्रदान किया है।

विज्ञापन

Advertisement

भगवान महावीर का दिव्य सन्देश

1. राग और द्वेप ही संसार के जनक है । इनकी निवृत्ति ही संसार से छूटने के उपाय हैं ।
2. शरीर अनित्य है, वैभव शाश्वत नही है । मृत्यु समीप में है । अतः धर्म का संग्रह करना श्रेयस्कर है ।
3. यदि यह आत्मा परावलम्बन को छोड़कर अपनी आत्म ज्योति की ओर दृष्टि करले तो यह अनाथ न रहकर त्रिलोकीनाथ वन जावे।
4. कपाय क्रोधादि विकारों पर विजय प्राप्त करना ही चरित्र है ।
5. जिसके हृदय में निर्मल आत्मा का वास नही होता उसे शास्त्र, पुराण एवं तपश्चर्या निर्वाण प्रदान नहीं कर सकती है ।
6. यह आत्मा ही तो परमात्मा है । कर्मोदय के कारण यह आराध्य से स्थान पर आराधक वनता है ।
7. इस आत्मा का प्राण "ज्ञान" है जो अविनाशी रहने के कारण कभी भी विनष्ट नही होता- इस कारण आत्मा का भी कभी मरण नही होता ।
8. जो व्यक्ति कष्ट को सबसे बुरी चीज मानता है वह वीर नहीं हो सकता तथा जो सुख को सर्वश्रेष्ट मानता है वह संयमी नहीं बन सकता ।

(दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा प्रसारित)
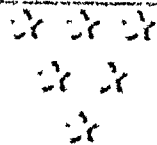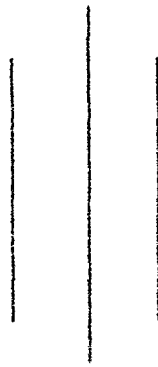
त्याज्य कहे भी शास्त्र मे, जो वर करे अकार्य ।
शान्ती नही उसको मिले, यद्यपि हो कृतकार्य ॥

स्मारिका

पापियों से परहेज के बजाय अधिक हित पापों से परहेज करने में है ।

प्रतीक्षा है

प्रतीक्षा है, उस युग की
उस क्षण की
जब श्रम से अर्जित
प्रवाल से स्वेदकण
परिवर्तित हो स्वर्णिम
ज्योतिमय आभा मे ।
प्रतीक्षा है उस युग की
उस क्षण की—सुमन लिए
जब नमन करूँ उनको
जो जीते हैं
विश्वास लिए
अपने भुजबल पर
जो न आश्रित हो
भिक्षा पर—दहेज पर
श्रम रहित पर—वेदन पर ।
विसगति और भ्रष्टाचार
हो रहे पोषित
दूषित कर रहे
मानव के सुमन को
खण्ड खण्ड कर रहे
मानव की अस्मिता को
यह दहेज के याचक
नष्ट कर रहे, भ्रष्ट कर रहे
पूरी सस्कृति, पूरी पीढ़ी को,
प्रतीक्षा है
उस युग की—उस क्षण की
जब श्रम से अर्जित
प्रवाल से स्वेदकण
परिवर्तित हो स्वर्णिम
ज्योतिर्मय आभा में ।
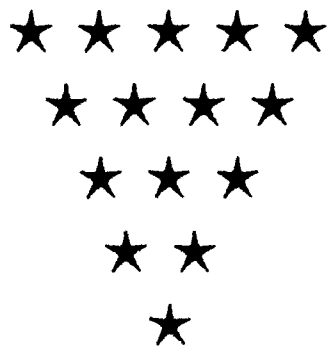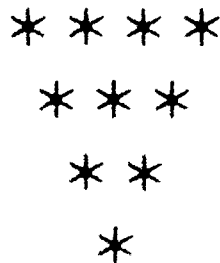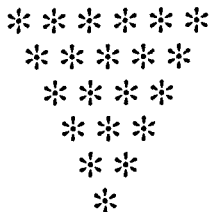
With	*Best*	*compliments*	*from*
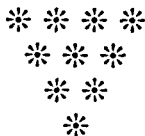
M/s Dileep Trading Corporation

J A I P U R

"हिंसा से विरक्त होना अहिंसा है"

— चारित्र पाहुड़, 30

☆ ☆ ☆ ☆
☆ ☆ ☆
☆ ☆
☆

✯ ✯ ✯ ✯ ✯ ✯ ✯
✯ ✯ ✯ ✯ ✯ ✯
✯ ✯ ✯ ✯ ✯
✯ ✯ ✯ ✯

खादी का एक बड़ा मिशन

खादी का एक बड़ा मिशन है। खादी उन लाखो लोगो को गौरवपूर्ण उद्योग प्रदान करती है जो वर्ष मे लगभग चार मास बेकार रहते हैं। इस काम से जो आमदनी होती है उसे छोड़ दे तो भी वह स्वय अपना पुरस्कार है, क्योंकि अगर लाखो लोगो को मजबूरन आलसी बनकर रहना पड़े तो अवश्य ही उनकी आध्यात्मिक, शारीरिक और मानसिक मृत्यु हो जायेगी। चरखे से लाखो गरीब स्त्रियो का दर्जा अपने आप बढ़ जाता है।

महात्मा गाधी

राजस्थान खादी ग्रामोद्योग संस्था सघ,
बजाज नगर, जयपुर

शुभ कामनाओं सहित

किरन एण्ड कम्पनी

जयपुर

Phone 514681 (R)
62121 P P (O)

R. KUMARS
ENTERPRISES

11, G K COMPLEX
KHAZANE WALON KA RASTA
JAIPUR -302 001 (Raj)

WHOLESALE DEALERS OF
GRAVIERA SUITING
BHILWARA PROCESS SUITINGS
R Kumar *EXCLUSIVE SUITINGS*

WITH BEST COMPLIMENTS FROM
GOLCHA GROUP
OF INDUSTRIES
PIONEERS AND MARKET LEADERS OF
BEST QUALITY TALC IN INDIA
MARKETED BY
M/S S. ZORASTER & COMPANY
(MINERAL DIVISION)
Head Office
'Prem Prakash' S M S Highway Jaipur-302 003
PHONES 565013 565014
GRAM JUPITER FAX 91-141-561119
TELEX 0365-2353 TALCIN
PRODUCFD BY
JAIPUR MINERAL DEVELOPMENT
SYNDICATE PVT LTD
DAUSA
UDAIPUR MINERAL DEVELOPMENT
SYNDICATE PVT LTD
BHILWARA

"QUALITY BUILDS CONFIDENCE"

DIAL : FACTORY 65511
RESI./OFF : 74335

AUTO BODY CENTRE

FABRICATORS OF AUTO VEHICLE BODIES

WORKS
JHOTWARA ROAD,
JAIPUR-302 016

OFFICE
A-26, SUBHASH NAGAR,
JHOTWARA ROAD,
JAIPUR- 302 016

VISIT FOR : STATIONWAGONS, AMBULANCES, X-RAY VANS, PICKUPS, DELIVERY VANS, MINI-BUSES & LUXURY COACHES

With Best Compliments from :
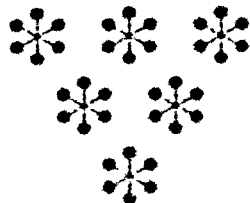
Subhash Udyog

Manufacturers of :
All Aluminium Conductors & Aluminium Conductors Steel Reinforced
Off & Works :
Plot 'D' Special Industrial Estate,
Jaipur (South)-302 005
Phone : Factory 69789

शुभ कामनाओं सहित

☆ ★ ① ☆ ★

श्री श्याम फिलामेन्स

जयपुर

☆ ★ ① ☆ ★

★ ① ☆

①

भगवान महावीर की पावन जयन्ती के अवसर पर
शुभ कामनाओं सहित :
गेलेक्सी इंटरनेशनल
जयपुर